प्राचीन काल

हिन्दी साहित्यकारों की अन्तर्दृष्टि में

(Ancient Period: In the Insight of Hindi Writers)

चंदन कुमार

प्राचीन काल : हिन्दी साहित्यकारों की अंतर्दृष्टि में

प्राचीन काल : हिन्दी साहित्यकारों की अंतर्दृष्टि में

(Ancient Period: In the Insight of Hindi Writers)

चंदन कुमार

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5562-5

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है–उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बंगाल में असमिया, मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएं हैं, जिनका साहित्यिक एवं भाषावैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है, जैसे–कश्मीरी, डोगरी, सिंधी, कोंकणी, तुलू आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषत: पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का, अपना साहित्य है, जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण- सभी की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है।

प्राचीन साहित्य की एक उपयोगिता सदा से यह रही कि उस पर डॉक्टरेट लेना सदा से सरल रहा। पहले तो 'विषय' ही इतने प्रकार के हैं कि यह निश्चित करना कि कौन-सा 'विषय' सही है, स्वयं में एक बड़ा काम है। दूसरी बात यह है कि प्राचीन साहित्यकारों ने अपने बारे में इतना कम लिखा है कि उन पर खोज करने की जो सुविधा है वह अनन्त है।

एक विदेशी विद्वान का कहना है कि महाकवि कालिदास कश्मीर के निवासी थे क्योंकि उन्होंने हाथी की चर्चा अत्यन्त कम की है और कश्मीर ही एक ऐसा देश है जहाँ हाथी उतनी बहुतायत के साथ नहीं पाया जाता। भारवि जरूर समुद्रतट के निवासी थे क्योंकि वे संस्कृत के अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होंने समुद्र में सूरज डूबने का चित्र खींचा है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**विषय बोध**	**1**
	सिद्ध और नाथ साहित्य	1
	जैन साहित्य	2
	रासो साहित्य	2
	प्रकीर्णक साहित्य	3
	हिन्दी का सर्वप्रथम कवि	4
	जैन साहित्य	4
2.	**हजारीप्रसाद द्विवेदी**	**10**
	हजारी प्रसाद द्विवेदी की उपलब्धियाँ तथा पुरस्कार	23
3.	**रामकुमार वर्मा**	**25**
	सुप्रसिद्ध कवि	26
4.	**राहुल सांकृत्यायन**	**30**
	राहुल सांकृत्यायन	31
	महापंडित राहुल सांकृत्यायन का बौद्ध-धर्म की ओर झुकाव	32
	जंजाल तोड़ो	46
	विद्या और वय	47

5. महावीर प्रसाद द्विवेदी **54**
जीवन परिचय 54
प्रकाशित कृतियाँ 55
मौलिक पद्य रचनाएँ 56
6. रामचन्द्र शुक्ल **62**
शिक्षा 63
कार्यक्षेत्र 63
रचनाएँ 64
साधारणीकरण 67
भावयोग 68
सर्वांगीण विचार 68
शोध - प्रविधि 78
7. मिश्र बंधु **98**
जीवन परिचय 98
प्रमुख रचनाएँ 99
8. विद्यापति **113**
श्रृंगार रस के कवि विद्यापति 113
प्रमुख रचनाएँ 117
कृतियाँ 118

1

विषय बोध

हिन्दी साहित्य के इतिहास में लगभग 8वीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी के मध्य तक के काल को आदिकाल कहा जाता है। इस युग को यह नाम डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी से मिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'वीरगाथा काल' तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'वीरकाल' नाम दिया है। इस काल की समय के आधार पर साहित्य का इतिहास लिखने वाले मिश्र बंधुओं ने इसका नाम प्रारंभिक काल किया और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बीजवपन काल। डॉ. रामकुमार वर्मा ने इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर इसको चारण-काल कहा है और राहुल संकृत्यायन ने सिद्ध-सामन्त काल।

इस समय का साहित्य मुख्यत: चार रूपों में मिलता है–

1. सिद्ध-साहित्य तथा नाथ-साहित्य,
2. जैन साहित्य,
3. चारणी-साहित्य, प्रकीर्णक साहित्य।

सिद्ध और नाथ साहित्य

यह साहित्य उस समय लिखा गया जब हिंदी अपभ्रंश से आधुनिक हिंदी की ओर विकसित हो रही थी। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के अनुयायी उस समय सिद्ध कहलाते थे। इनकी संख्या चौरासी मानी गई है। सरहपा (सरोजपाद

अथवा सरोजभद्र) प्रथम सिद्ध माने गए हैं। इसके अतिरिक्त शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा आदि सिद्ध सहित्य के प्रमुख् कवि हैं। ये कवि अपनी वाणी का प्रचार जन भाषा में करते थे। उनकी सहजिया प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति को केंद्र में रखकर निर्धारित हुई थी। इस प्रवृत्ति ने एक प्रकार की स्वच्छंदता को जन्म दिया जिसकी प्रतिक्रिया में नाथ संप्रदाय शुरू हुआ। नाथ-साधु हठयोग पर विशेष बल देते थे। वे योग मार्गी थे। वे निर्गुण निराकार ईश्वर को मानते थे। तथाकथित नीची जातियों के लोगों में से कई पहुँचे हुए सिद्ध एवं नाथ हुए हैं। नाथ-संप्रदाय में गोरखनाथ सबसे महत्वपूर्ण थे। आपकी कई रचनाएं प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त गोपीचन्द, भरथरी आदि नाथ पन्थ के प्रमुख कवि है। इस समय की रचनाएं साधारणत: दोहों अथवा पदों में प्राप्त होती हैं, कभी-कभी चौपाई का भी प्रयोग मिलता है। परवर्ती संत-साहित्य पर सिद्धों और विशेषकर नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

जैन साहित्य

अपभ्रंश की जैन-साहित्य परंपरा हिंदी में भी विकसित हुई है। जैन कवियो ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जो साहित्य लिखा वह जैन साहित्य कहलाता हैं।

जैन कवियो ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जो साहित्य लिखा वह जैन साहित्य कहलाता हैं। बड़े-बड़े प्रबंधकाव्यों के उपरांत लघु खंड-काव्य तथा मुक्तक रचनाएं भी जैन-साहित्य के अंतर्गत आती हैं। स्वयंभू का पउम-चरिउ वास्तव में राम-कथा ही है। स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल आदि उस समय के प्रख्यात कवि हैं। गुजरात के प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र भी लगभग इसी समय के हैं। जैनों का संबंध राजस्थान तथा गुजरात से विशेष रहा है, इसीलिए अनेक जैन कवियों की भाषा प्राचीन राजस्थानी रही है, जिससे अर्वाचीन राजस्थानी एवं गुजराती का विकास हुआ है। सूरियों के लिखे राम-ग्रंथ भी इसी भाषा में उपलब्ध हैं।

रासो साहित्य

इस काल में रासो साहित्य की तीन प्रवृतियाँ देखने को मिलती है–

वीरगाथात्मक – पृथ्वीराज रासो ,हम्मीर रासो,परमाल रासो

धार्मिकता – भारतेश्वर बाहुबली रास

श्रृंगारिकता – संदेश रासक चारणी–साहित्य

इसके अंतर्गत चारण के उपरांत ब्रह्मभट्ट और अन्य बंदीजन कवि भी आते हैं। सौराष्ट्र, गुजरात और पश्चिमी राजस्थान में चारणों का, तथा ब्रज–प्रदेश, दिल्ली तथा पूर्वी राजस्थान में भट्टों का प्राधान्य रहा था। चारणों की भाषा साधारणतः राजस्थानी रही है और भट्टों की ब्रज। इन भाषाओं को डिंगल और पिंगल नाम भी मिले हैं। ये कवि प्रायः राजाओं के दरबारों में रहकर उनकी प्रशस्ति किया करते थे। अपने आश्रयदाता राजाओं की अतिरंजित प्रशंसा करते थे। श्रृंगार और वीर उनके मुख्य रस थे। इस समय की प्रख्यात रचनाओं में चंदबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो, दलपति कृत खुमाण–रासो, नरपति–नाल्ह कृत बीसलदेव रासो, जगनिक कृत आल्ह खंड आदि मुख्य हैं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण पृथ्वीराज रासो है। इन सब ग्रंथों के बारे में आज यह सिद्ध हुआ है कि उनके कई अंश क्षेपक हैं।

प्रकीर्णक साहित्य

खड़ी बोली के आदि–कवि अमीर खुसरो इसी समय हुए हैं। खुसरो की पहेलियां और मुकरियां प्रख्यात हैं। मैथिल–कोकिल विद्यापति भी इसी समय के अंतर्गत हुए हैं। विद्यापति के मधुर पदों के कारण इन्हें 'अभिनव जयदेव' भी कहा जाता है। मैथिली और अवहट्ट में भी इनकी रचनाएं मिलती हैं। इनकी पदावली का मुख्य रस श्रृंगार माना गया है। अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक' भी इसी समय की एक सुंदर रचना है। इस छोटे से प्रेम–संदेश–काव्य की भाषा अपभ्रंश से अत्यधिक प्रभावित होने से कुछ विद्वान इसको हिंदी की रचना न मानकर अपभ्रंश की रचना मानते हैं।

आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशंसाएं, युद्धों का सुन्दर वर्णन,श्रृंगार–मिश्रित वीररस का आलेखन वगैरह इस साहित्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। इस्लाम का भारत में प्रवेश हो चुका था। देशी रजवाड़े परस्पर कलह में व्यस्त थे। सब एक साथ मिलकर मुसलमानों के साथ लड़ने के लिए तैयार नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि अलग–अलग सबको हराकर मुसलमान यहीं स्थिर हो गए। दिल्ली की गद्दी उन्होंने प्राप्त कर ली और क्रमशः उनके राज्य का विस्तार बढ़ने लगा। तत्कालीन कविता पर इस स्थिति का प्रभाव देखा जा सकता है।

हिन्दी का सर्वप्रथम कवि

हिन्दी का प्रथम कवि कौन है, इस पर मतैक्य नहीं है। विभिन्न इतिहासकारों के अनुसार हिंदी का पहला कवि निम्नलिखित हैं–

रामकुमार वर्मा के अनुसार–स्वयंभू (693 ई.)
राहुल सांकृत्यायन के अनुसार–सरहपा (769 ई.)
शिवसिंह सेंगर के अनुसार–पुष्पदन्त या पुण्ड (10वीं शताब्दी)
चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के अनुसार–राजा मुंज (993 ई.)
रामचंद्र शुक्ल के अनुसार–राजा मुंज व भोज (993 ई.)
गणपति चंद्र गुप्त के अनुसार–शालिभद्र सूरि (1184 ई.)
हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार–अब्दुल रहमान (13वीं शताब्दी)
बच्चन सिंह के अनुसार–विद्यापति (15वीं शताब्दी)

जैन साहित्य

जैन पुराण साहित्य

ऐतिहसिक जानकारी हेतु जैन साहित्य भी बौद्ध साहित्य की ही तरह महत्त्वपूर्ण हैं। अब तक उपलब्ध जैन साहित्य प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में मिलतें हैं। जैन साहित्य के विशेषज्ञ तथा अनुसन्धानपूर्ण लेखक अगरचन्द नाहटा थे। जैन साहित्य, जिसे 'आगम' कहा जाता है, इनकी संख्या 12 बतायी जाती है। आगे चलकर इनके 'उपांग' भी लिखे गये । आगमों के साथ-साथ जैन ग्रंथों में 10 प्रकीर्ण, 6 छंद सूत्र, एक नंदि सूत्र एक अनुयोगद्वार एवं चार मूलसूत्र हैं। इन आगम ग्रंथों की रचना सम्भवत: 'श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्यो द्वारा महावीर स्वामी की मृत्यु के बाद की गयी। बारह आगम इस प्रकार हैं-

1. आचरांग सुत्त, 2. सूर्यकडंक, 3. थापंग, 4. समवायांग, 5. भगवतीसूत्र, 6. न्यायधम्मकहाओ, 7. उवासगदसाओं, 8. अन्तगडदसाओ, 9. अणुत्तरोववाइयदसाओं, 10. पण्हावागरणिआई, 11. विवागसुयं, और 12 द्विट्ठिवाय। इन आगम ग्रंथो के 'आचरांगसूत्त' से जैन भिक्षुओं के विधि-निषेधों एवं आचार-विचारों का विवरण एवं 'भगवतीसूत्र' से महावीर स्वामी के जीवन-शिक्षाओं आदि के बारे में उपयुक्त जानकारी मिलती है, जो इस प्रकार हैं- 1. औपपातिक, 2. राजप्रश्नीय, 3. जीवाभिगम, 4. प्रज्ञापणा, 5. सूर्यप्रज्ञप्ति, 6. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, 7. चन्दप्रज्ञप्ति,

8. निर्यावलिका, 9. कल्पावंतसिका, 10. पुष्पिका, 11. पुष्पचूलिका और 12. वृष्णिदशा। आगम ग्रंन्थों के अतिरिक्त 10 प्रकीर्ण इस प्रकार हैं– 1. चतु:शरण, 2. आतुर प्रत्याख्यान, 3. भक्तिपरीज्ञा, 4. संस्तार, 5. तांदुलवैतालिक, 6. चंद्रवेध्यक, 7. गणितविद्या, 8. देवेन्द्रस्तव, 9. वीरस्तव और 10.महाप्रत्याख्यान।

छेदसूत्र की संख्या 6 है– 1. निशीथ, 2. महानिशीथ, 3. व्यवहार, 4. आचारदशा, 5. कल्प और 6. पंचकल्प आदि। एक नंदि सूत्र एवं एक अनुयोग द्वारा जैन धर्म अनुयायियों के स्वतंत्र ग्रंथ एवं विश्वकोष हैं।

जैन साहित्य में पुराणों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है जिन्हें 'चरित' भी कहा जाता है। ये प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषाओं में लिखें गयें हैं। इनमें पद्म पुराण, हरिवंश पुराण, आदि पुराण, इत्यादि उल्लेखनीय हैं। जैन पुराणों का समय छठी शताब्दी से सोलहवीं-सत्रवहीं शताब्दी तक निर्धारित किया गया है।

जैन ग्रंथों में परिशिष्ट पर्व, भद्रबाहुचरित, आवश्यकसूत्र, आचारांगसूत्र, भगवतीसूत्र, कालिकापुराणा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनसे ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना मिलती है। भारतीय धर्मग्रन्थों में 'पुराण' शब्द का प्रयोग इतिहास के अर्थ में आता है। कितने विद्वानों ने इतिहास और पुराण को पंचम वेद माना है। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में इतिवृत्त, पुराण, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का समावेश किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास और पुराण दोनों ही विभिन्न हैं। इतिवृत्त का उल्लेख समान होने पर भी दोनों अपनी अपनी विशेषता रखते हैं। इतिहास जहाँ घटनाओं का वर्णन कर निवृत्त हो जाता है वहाँ पुराण उनके परिणाम की ओर पाठक का चित्त आकृष्ट करता है। सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।वंशानुचरितान्येव पुराणं पंचलक्षणम्

जिसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंश-परम्पराओं का वर्णन हो, वह पुराण है। सर्ग, प्रतिसर्ग आदि पुराण के पाँच लक्षण हैं। तात्पर्य यह कि इतिवृत्त केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है, परन्तु पुराण महापुरुषों के घटित घटनाओं का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्त फलाफल पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है तथा व्यक्ति के चरित्र निर्माण की अपेक्षा बीच-बीच में नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं का प्रदर्शन भी करता है। इतिवृत्त में जहाँ केवल वर्तमान की घटनाओं का उल्लेख रहता है वहाँ पुराण में नायक के अतीत और अनागत भवों का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिये कि जनसाधारण समझ सके कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है। अवनत से उन्नत बनने के लिये क्या-क्या त्याग, परोपकार और तपस्याएँ करनी पड़ती हैं। मानव के जीवन-निर्माण में पुराण

का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्व अक्षुण्ण है।

जैन धर्म के अनुसार आध्यात्मिक विकास की पूर्णता हेतु श्रावक या गृहस्थधर्म (श्रावकाचार) पूर्वार्ध है और श्रमण या मुनिधर्म (श्रमणाचार) उत्तरार्ध। श्रमणधर्म की नींव गृहस्थ धर्म पर मजबूत होती है। यहाँ गृहस्थ धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका इसलिए भी है क्योंकि श्रावकाचार की भूमिका में एक सामान्य गृहस्थ त्याग और भोग-इन दोनों को समन्वयात्मक दृष्टि में रखकर आध्यात्मिक विकास में अग्रसर होता है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में सर्वप्रथम श्रावकाचार का स्वरूप में विवेचन आवश्यक है।

इसका उल्लेख उत्तरवर्ती आचार्य अभयचन्द्र ने अपनी मन्दप्रबोधिनी टीका में किया है। इस पंजिका की एकामात्र उपलब्ध प्रति (सं0 1560) पं. परमानन्द जी शास्त्री के पास रही। इस टीका का प्रमाण पाँच हजार श्लोक है।

जैन ग्रंथ

भगवान महावीरस्वामी की प्रवृत्तियों का केंद्र मगध रहा है, इसलिये उन्होंने यहाँ की लोकभाषा अर्धमागधी में अपना उपदेश दिया जो उपलब्ध जैन आगमों में सुरक्षित है। ये आगम 45 हैं और इन्हें 'श्वेताबर' जैन प्रमाण मानते हैं, दिगंबर जैन नहीं। दिंगबरों के अनुसार आगम साहित्य कालदोष से विच्छिन्न हो गया है। दिगंबर षट्खंडागम को स्वीकार करते हैं जो 12वें अंगदृष्टिवाद का अंश माना गया है। दिगंबरों के प्राचीन साहित्य की भाषा शौरसेनी है। आगे चलकर अपभ्रंश तथा अपभ्रंश की उत्तरकालीन लोक-भाषाओं में जैन पंडितों ने अपनी रचनाएँ लिखकर भाषा साहित्य को समृद्ध बनाया।

आदिकालीन साहित्य में जैन साहित्य के ग्रन्थ सर्वाधिक संख्या में और सबसे प्रमाणिक रूप में मिलते हैं। जैन रचनाकारों ने पुराण काव्य, चरित काव्य, कथा काव्य, रास काव्य आदि विविध प्रकार के ग्रंथ रचे। स्वयंभू, पुष्प दंत, आचार्य हेमचंद्रजी, सोमप्रभ सूरीजीआदि मुख्य जैन कवि हैं। इन्होंने हिंदुओं में प्रचलित लोक कथाओं को भी अपनी रचनाओं का विषय बनाया और परंपरा से अलग उसकी परिणति अपने मतानुसार दिखाई।

आगम-साहित्य की प्राचीनताजैन-साहित्य का प्राचीनतम भाग 'आगम' के नाम से कहा जाता है। ये आगम 46 हैं-

(क) 12 अंग–आयारंग, सूयगडं, ठाणांग, समवायांग, भगवती, नायाधम्मकहा, उवासगदसा, अंतगडदसा, अनुत्तरोववाइयदसा, पण्हवागरण, विवागसुय, दिठ्ठवाय।(ख) 12 उपांग–ओवाइय, रायपसेणिय, जीवाभिगम, पन्नवणा, सूरियपन्नति, जम्बुद्दीवपन्नति, निरयावलि, कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया, वण्हिदसा।(ग) 10 पइन्ना–चउसरण, आउरपचक्खाण, भत्तपरिन्ना, संथर, तंदुलवेयालिय, चंदविज्झय, देविंदत्थव, गणिविज्जा, महापंचक्खाण, वोरत्थव।

(घ) 6 छेदसूत्र–निसीह, महानिसीह, ववहार, आचारदसा, कप्प (बृहत्कल्प), पंचकप्प।(च) 4 मूलसूत्र–उत्तरज्झयण, आवस्सय, दसवेयालिय, पिंडनिज्जुति, नंदि और अनुयोग।

आगम ग्रन्थ काफी प्राचीन है, तथा जो स्थान वैदिक साहित्य क्षेत्र में वेद का और बौद्ध साहित्य में त्रिपिटक का है, वही स्थान जैन साहित्य में आगमों का है। आगम ग्रन्थों में महावीर स्वामी के उपदेशों तथा जैन संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली अनेक कथा-कहानियों का संकलन है।

जैन परम्परा के अनुसार महावीर निर्वाण (ई. सन् के पूर्व 527) के 160 वर्ष पश्चात (लगभग ई. सन् के 367 पूर्व) मगध देशों में बहुत भारी दुष्काल पड़ा, जिसके फलस्वरूप जैन भिक्षुओं को अन्यत्र विहार करना पड़ा। दुष्काल समाप्त हो जाने पर श्रमण पाटलिपुत्र (पटना) में एकत्रित हुए और यहाँ खण्ड-खण्ड करके ग्यारह अंगों का संकलन किया गया, बारहवाँ अंग किसी को स्मरण नहीं था, इसलिए उसका संकलन न किया जा सका। इस सम्मेलन को 'पाटलिपुत्र-वाचना' के नाम से जाना जाता है। कुछ समय पश्चात् जब आगम साहित्य का फिर विच्छेद होने लगा तो महावीर निर्वाण के 827 या 840 वर्ष बाद (ई. सन् के 300-313 में) जैन साधुओं के दूसरे सम्मेलन हुए। एक आर्यस्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में तथा दूसरा नागार्जुन सूरि की अध्यक्षता में वलभी में। मथुरा के सम्मेलन को 'माथुरी-वाचना' की संज्ञा दी गयी है। तत्पश्चात लगभग 150 वर्ष बाद, महावीर निर्वाण के 980 या 993 वर्ष बाद (ई. सन् 453-466 में) वल्लभी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में साधुओं का चौथा सम्मेलन हुआ, जिसमें सुव्यवस्थित रूप से आगमों का अन्तिम बार संकलन किया गया। यह सम्मेलन 'वलभी-वाचना' के नाम से जाना जाता है। वर्तमान आगम इसी संकलन का रूप है। जैन आगमों की उक्त तीन संकलनाओं के इतिहास से पता लगता है कि समय-समय पर आगम साहित्य को काफी क्षति उठानी पड़ी, और यह साहित्य अपने मौलिक रूप में सुरक्षित

नहीं रह सका। महत्व ईसा के पूर्व लगभग चौथी शताब्दी से लगाकर ई. सन् पाँचवी शताब्दी तक की भारतवर्ष की आर्थिक तथा सामाजिक दशा का चित्रण करने वाला यह साहित्य अनेक दृष्टियों से महत्त्व का है। आचारांग, सुर्यगडं, उत्तराध्ययन सूत्र, दसवैकालिक आदि ग्रन्थों में जो जैन भिक्षुओं के आचार-विचारों का विस्तृत वर्णन है, और डॉ. विण्टरनीज आदि विद्वानों के कथानानुसार वह श्रमण-काव्य (Ascetic poetry) का प्रतीक है। भाषा और विषय आदि की दृष्टि से जैन आगमों का यह भाग सबसे प्राचीन मालूम होता है।

भगवती कल्पसूत्र, ओवाइय, ठाणांग, निरयावलि आदि ग्रन्थों में श्रमण भगवान महावीर, उनकी चर्या, उनके उपदेशों तथा तत्कालीन राजा, राजकुमार और उनके युद्ध आदि का विस्तृत वर्णन है, जिससे जैन इतिहास की लुप्तप्राय अनेक अनुश्रुतियों का पता लगता है। नायाधम्मकहा, उवासगदसा, अन्तगडदसा, अनुत्तरोववाइयदसा, विवागसुय आदि ग्रन्थों में महावीर स्वामीजी द्वारा कही हुई अनेक कथा-कहानियाँ तथा उनकी शिष्य-शिष्याओं का वर्णन है, जिसमें जैन परम्परा सम्बन्धी अनेक बातों का परिचय मिलता है। रायपणेसिय, जीवाभिगम, पन्नवणा आदि ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र, संगीत, वनस्पति आदि सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विषयों का वर्णन है, जो प्रायः अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है।

छेदसूत्रों में साधुओं के आहार-विहार तथा प्रायश्चित आदि का विस्तृत वर्णन है, जिसकी तुलना बौद्धों के विनयपिटक से की सकती है। वृहत्कल्पसूत्र (1-50) में बताया गया है कि जब भगवान महावीर साकेत (अयोध्या) सुभुमिभाग नामक उद्यान में विहार करते थे तो उस समय उन्होंने अपने भिक्षु-भिक्षुणियों को साकेत के पूर्व में अंग-मगध तक दक्षइ के कौशाम्बी तक, तथा उत्तर में कुणाला (उत्तरोसल) तक विहार करने की अनुमति दी। इससे पता लगता है कि आरम्भ में जैन धर्म का प्रचार सीमित था, तथा जैन श्रमण मगध और उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्सों को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकते थे। निःसन्देह छेदसूत्रों का यह भाग उतना ही प्राचीन है, जितने स्वयं महावीर।

तत्पश्चात राजा कनिष्क के समकालीन मथुरा के जैन शिलालेखों में भिन्न-भिन्न गण, कुल और शाखाओं का उल्लेख है, वह भद्रवाहु के कल्पसूत्र में वर्णित गण, कुल और शाखाओं के साथ प्रायः मेल खाता है। इससे भी जैन आगम ग्रन्थों की प्रामाणिकता का पता चलता है। वस्तुतः इस समय तक जैन परम्परा में 'श्वेताम्बर और दिगम्बर का भेद नहीं मालूम होता। जैन आगमों के विषय, भाषा आदि में जो पालि त्रिपिटक से समानता है, वह भी इस साहित्य

की प्राचीनता को द्योतित करती है। पालि-सूत्रों की अट्टकथाओं की तरह आगमों की भी अनेक टीका-टिप्पणियाँ, दीपिका, निवृत्ति, विवरण, अवचूरि आदि लिखी गयी हैं। इस साहित्य को सामान्यता निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका-इन चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है, आगम को मिलाकर इसे 'पांचांगी' के नाम से कहते हैं। आगम साहित्य की तरह यह साहित्य भी बहुत महत्त्व का है। इसमें आगमों के विषय का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इस साहित्य में अनेक अनुश्रुतियाँ सुरक्षित हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीथचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, आवश्यकटीका, उत्तराध्ययन टीका आदि टीका-ग्रन्थों में पुरातत्त्व सम्बन्धी विविध सामग्री भरी पड़ी है, जिससे भारत के रीति-रिवाज, मेले-त्यौहार, साधु-सम्प्रदाय, दुष्काल, बाढ़, चोर-लुटेरे, सार्थवाह, व्यापार के मार्ग, शिल्प, कला, भोजन-शास्त्र, मकान, आभूषण, आदि विविध विषयों पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

लोक-कथा और भाषा शास्त्र की दृष्टि से भी यह साहित्य बहुत महत्त्व का है। डॉ. विण्टरनीज के शब्दों में-जैन टीका-ग्रन्थों में भारतीय प्राचीन-कथा साहित्य के अनेक उज्वल रत्न विद्यामान हैं, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते।

चूर्णि-साहित्य में प्राकृत मिश्रित संस्कृत का उपयोग किया गया है, जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है, और साथ यह उस महत्त्वपूर्ण काल का द्योतक है जब जैन विद्वान प्राकृत का आश्रय छोड़कर संस्कृत भाषा की ओर बढ़ रहे थे।

टीका, महाधवला टीका, कसायपाहुड, जयधवला टीका,योगसार,

पंचास्तिकायसार,

बारसाणुवेक्खा,

आप्तमीमांसा,

अष्टशती टीका,

अष्टसहस्री टीका,

तत्त्वार्थराजवार्तिक टीका,

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

टीका,समाधितन्त्रभगवती आराधना,मूलाचार,गोम्मतसार,द्रव्यसंग्रह,

भद्रबाहु संहिता प्रथामानयोग आदिपुराणतत्त्वार्थ सूत्रतत्त्वार्थ सूत्रतत्त्वार्थ सूत्र, आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित जैन ग्रन्थ है। इसे 'मोक्ष-शास्त्र' भी कहते हैं।

2

हजारीप्रसाद द्विवेदी

हजारीप्रसाद द्विवेदी (19 अगस्त 1907 – 19 मई 1979) हिन्दी निबन्धकार, आलोचक और उपन्यासकार थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ल एकादशी संवत् 1964 तदनुसार 19 अगस्त 1907 ई0 को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के आरत दुबे का छपरा, ओझवलिया नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती था। इनका परिवार ज्योतिष विद्या के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता पं. अनमोल द्विवेदी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। द्विवेदी जी के बचपन का नाम वैद्यनाथ द्विवेदी था। द्विवेदी जी की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के स्कूल में ही हुई। उन्होंने 1920 में बसरिकापुर के मिडिल स्कूल से प्रथम श्रेणी में मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद उन्होंने गाँव के निकट ही पराशर ब्रह्मचर्य आश्रम में संस्कृत का अध्ययन प्रारंभ किया।

सन् 1923 में वे विद्याध्ययन के लिए काशी आये। वहाँ रणवीर संस्कृत पाठशाला, कमच्छा से प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। 1927 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष भगवती देवी से उनका विवाह सम्पन्न हुआ। 1929 में उन्होंने इंटरमीडिएट और संस्कृत साहित्य में शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1930 में ज्योतिष विषय में आचार्य की उपाधि प्राप्त की। शास्त्री तथा आचार्य दोनों ही परीक्षाओं में उन्हें प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। 8 नवम्बर 1930 से द्विवेदीजी ने शांति

निकेतन में हिन्दी का अध्यापन प्रारम्भ किया। वहाँ गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रभाव से साहित्य का गहन अध्ययन किया तथा अपना स्वतंत्र लेखन भी व्यवस्थित रूप से आरंभ किया। बीस वर्षों तक शांतिनिकेतन में अध्यापन के उपरान्त द्विवेदीजी ने जुलाई 1950 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर और अध्यक्ष के रूप में कार्यभार ग्रहण किया। 1957 में राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित किये गये। प्रतिद्वन्द्वियों के विरोध के चलते मई 1960 में द्विवेदी जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिये गये। जुलाई 1960 से पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिंदी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष रहे। अक्टूबर 1967 में पुनः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिंदी विभागाध्यक्ष होकर लौटे। मार्च 1968 में विश्वविद्यालय के रेक्टर पद पर उनकी नियुक्ति हुई और 25 फरवरी 1970 को इस पद से मुक्त हुए। कुछ समय के लिए 'हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण' योजना के निदेशक भी बने। कालान्तर में उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के अध्यक्ष तथा 1972 से आजीवन उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ के उपाध्यक्ष पद पर रहे। 1973 में 'आलोक पर्व' निबन्ध संग्रह के लिए उन्हें 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया।

4 फरवरी 1979 को पक्षाघात के शिकार हुए और 19 मई 1979 को ब्रेन ट्यूमर से दिल्ली में उनका निधन हो गया। द्विवेदी जी का व्यक्तित्त्व बड़ा प्रभावशाली और उनका स्वभाव बड़ा सरल और उदार था। वे हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत और बाङ्ला भाषाओं के विद्वान थे। भक्तिकालीन साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि देकर उनका विशेष सम्मान किया था। हिन्दी साहित्य के लिए उनके अवदान अविस्मरणीय है। अनुक्रमरचनाएँ हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित (1936)हिन्दी साहित्य की भूमिका (1940)प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद (1952)कबीर (1942)नाथ संप्रदाय (1950)हिन्दी साहित्य का आदिकाल (1952)आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार (1949)साहित्य का मर्म (1949)मेघदूतः एक पुरानी कहानी (1957)लालित्य तत्त्व (1962)साहित्य सहचर (1965)कालिदास की लालित्य योजना (1965)मध्यकालीन बोध का स्वरूप (1970)हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास (1952)मृत्युंजय रवीन्द्र (1970)सहज साधना (1963)निबंध संग्रह अशोक के फूल (1948)कल्पलता (1951)विचार और वितर्क (1954)विचार-प्रवाह (1959)कुटज (1964)विश के दन्त

उपन्यासबाणभट्ट की आत्मकथा (1946)चारु चंद्रलेख(1963) पुनर्नवा (1973)अनामदास का पोथा (1976) अन्यसंक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (1957)संदेश रासक (1960)सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण (1979)महापुरुषों का स्मरण (1977)ग्रन्थावली एवं ऐतिहासिक व्याकरण

अगस्त 1981 ई0 में आचार्य द्विवेदी की उपलब्ध सम्पूर्ण रचनाओं का संकलन 11 खंडों में हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली के नाम से प्रकाशित हुआ। यह प्रथम संस्करण 2 वर्ष से भी कम समय में समाप्त हो गया। द्वितीय संशोधित परिवर्धित संस्करण 1998 ई0 में प्रकाशित हुआ।

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण के क्षेत्र में भी काम किया था। उन्होंने 'हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण' के नाम से चार खण्डों में विशाल व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी पांडुलिपि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को सौंपी गयी थी, परंतु लंबे समय तक वहाँ से इसका प्रकाशन नहीं हुआ और अंततः वहाँ से पांडुलिपियाँ ही गायब हो गयीं। द्विवेदी जी के पुत्र मुकुन्द द्विवेदी को उक्त वृहत् ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की प्रतिकापी मिली और सन् 2011 ई0 में इस विशाल ग्रंथ का पहला खण्ड हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी ग्रंथ को यथावत् ग्रन्थावली के 12वें खंड के रूप में भी सम्मिलित करके अब 12 खण्डों में 'हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली' का प्रकाशन हो रहा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी विषयक साहित्य

शांतिनिकेतन से शिवालिक - सं0-शिवप्रसाद सिंह (1967, द्वितीय संशोधित-परिवर्धित संस्करण-1988, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली से, नवीन संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली से)

दूसरी परम्परा की खोज - नामवर सिंह (1982, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

हजारीप्रसाद द्विवेदी (विनिबन्ध)- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (1989, साहित्य एकेडमीं, नयी दिल्ली से)

साहित्यकार और चिन्तक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - डॉ0 राममूर्ति त्रिपाठी (1997, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व - सं0- डॉ0 व्यास मणि त्रिपाठी (2008, हिंदी साहित्य कला परिषद्, पोर्टब्लेयर, अंडमान से)

व्योमकेश दरवेश आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का पुण्य स्मरण, (जीवनी एवं आलोचना)- विश्वनाथ त्रिपाठी (2011, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

हजारीप्रसाद द्विवेदी–समग्र पुनरावलोकन - चौथीराम यादव (2012, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद से, हरियाणा साहित्य अकादमी से पूर्व प्रकाशित 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य' का संशोधित-परिवर्धित संस्करण)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जय-यात्रा - नामवर सिंह (आचार्य द्विवेदी पर नामवर जी द्वारा लिखित समस्त सामग्री का एकत्र संकलन, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)रचनात्मक वैशिष्ट्यवर्ण्य विषय

द्विवेदी जी के निबंधों के विषय भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य विविध धर्मों और संप्रदायों का विवेचन आदि है। वर्गीकरण की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं - विचारात्मक और आलोचनात्मक। विचारात्मक निबंधों की दो श्रेणियां हैं। प्रथम श्रेणी के निबंधों में दार्शनिक तत्त्वों की प्रधानता रहती है। द्वितीय श्रेणी के निबंध सामाजिक जीवन संबंधी होते हैं। आलोचनात्मक निबंध भी दो श्रेणियों में बांटें जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में ऐसे निबंध हैं, जिनमें साहित्य के विभिन्न अंगों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है और द्वितीय श्रेणी में वे निबंध आते हैं जिनमें साहित्यकारों की कृतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार हुआ है। द्विवेदी जी के इन निबंधों में विचारों की गहनता, निरीक्षण की नवीनता और विश्लेषण की सूक्ष्मता रहती है। भाषा द्विवेदी जी की भाषा परिमार्जित खड़ी बोली है। उन्होंने भाव और विषय के अनुसार भाषा का चयनित प्रयोग किया है। उनकी भाषा के दो रूप दिखलाई पड़ते हैं - (1) प्राँजल व्यावहारिक भाषा, (2) संस्कृतनिष्ठ शास्त्रीय भाषा। प्रथम रूप द्विवेदी जी के सामान्य निबंधों में मिलता है। इस प्रकार की भाषा में उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी समावेश हुआ है। द्वितीय शैली उपन्यासों और सैद्धांतिक आलोचना के क्रम में परिलक्षित होती है। द्विवेदी जी की विषय प्रतिपादन की शैली अध्यापकीय है। शास्त्रीय भाषा रचने के दौरान भी प्रवाह खण्डित नहीं होता।

द्विवेदी जी की रचनाओं में उनकी शैली के निम्नलिखित रूप मिलते हैं–

(1) गवेषणात्मक शैली द्विवेदी जी के विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबंध इस शैली में लिखे गए हैं। यह शैली द्विवेदी जी की प्रतिनिधि शैली है। इस शैली की भाषा संस्कृत प्रधान और अधिक प्रांजल है। वाक्य कुछ बड़े-बड़े

हैं। इस शैली का एक उदाहरण देखिए – लोक और शास्त्र का समन्वय, गृहस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय,निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्व ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय, रामचरित मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।(2) वर्णनात्मक शैली द्विवेदी जी की वर्णनात्मक शैली अत्यंत स्वाभाविक एवं रोचक है। इस शैली में हिंदी के शब्दों की प्रधानता है, साथ ही संस्कृत के तत्सम और उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वाक्य अपेक्षाकृत बड़े हैं।(3) व्यंग्यात्मक शैली द्विवेदी जी के निबंधों में व्यंग्यात्मक शैली का बहुत ही सफल और सुंदर प्रयोग हुआ है। इस शैली में भाषा चलती हुई तथा उर्दू, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग मिलता है। (4) व्यास शैली द्विवेदी जी ने जहाँ अपने विषय को विस्तारपूर्वक समझाया है, वहाँ उन्होंने व्यास शैली को अपनाया है। इस शैली के अंतर्गत वे विषय का प्रतिपादन व्याख्यात्मक ढंग से करते हैं और अंत में उसका सार दे देते हैं।महत्वपूर्ण कार्य द्विवेदी जी का हिंदी निबंध और आलोचनात्मक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। वे उच्च कोटि के निबंधकार और सफल आलोचक हैं। उन्होंने सूर, कबीर, तुलसी आदि पर जो विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएं लिखी हैं, वे हिंदी में पहले नहीं लिखी गईं। उनका निबंध-साहित्य हिंदी की स्थाई निधि है। उनकी समस्त कृतियों पर उनके गहन विचारों और मौलिक चिंतन की छाप है। विश्व-भारती आदि के द्वारा द्विवेदी जी ने संपादन के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। मानवतावाद और द्विवेदी जी आचार्य द्विवेदी जी के साहित्य में मानवता का परिशीलन सर्वत्र दिखाई देता है। उनके निबंध तथा उपन्यासों में यह दृष्टि विशेष रूप से प्रतीत होती है। **सम्मान** हजारी प्रसाद द्विवेदी को साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन् 1957 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया।हजारी प्रसाद द्विवेदी का कार्यक्षेत्र हजारी प्रसाद द्विवेदी का हिंदी निबंध और आलोचनात्मक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। वे उच्च कोटि के निबंधकार और सफल आलोचक थे। उन्होंने सूर, कबीर, तुलसी आदि पर जो विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएं लिखी हैं, वे हिंदी में पहले नहीं लिखी गईं। उनका निबंध-साहित्य हिंदी की स्थाई निधि है। उनकी समस्त कृतियों पर उनके गहन विचारों और मौलिक चिंतन की छाप है। 'विश्व-भारती' आदि के द्वारा द्विवेदी जी ने संपादन के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। व्यावसायिक शुरुआत सन् 1930 में इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी प्राध्यापक होकर 'शान्ति निकेतन' चले गये।

सन् 1940 से 1950 ई. तक वे वहाँ पर हिन्दी भवन के निर्देशक के पद पर काम करते रहे। शान्ति निकेतन में रवीन्द्र नाथ टैगोर के घनिष्ठ सम्पर्क में आने पर नये मानवतावाद के प्रति उनके मन में जिस आस्था की प्रतिष्ठा हुई, वह उनके भावी विकास में बहुत ही सहायक बनी। क्षितिजमोहन सेन, विधुशेखर भट्टाचार्य और बनारसीदास चतुर्वेदी की सन्निकटता से भी उनकी साहित्यिक गतिविधि में अधिक सक्रियता आयी। 'शान्ति निकेतन' में द्विवेदी जी को अध्ययन-चिन्तन का निर्बाध अवकाश मिला। वास्तव में वहाँ के शान्त और अध्ययनपूर्ण वातावरण में ही द्विवेदी जी के आस्था-विश्वास, जीवन-दर्शन आदि का निर्माण हुआ, जो उनके साहित्य में सर्वत्र प्रतिफलित हुआ है।

विभिन्न पदों पर कार्य सन् 1950 ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति के अनुरोध और आमंत्रण पर हजारी प्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी विभाग' के अध्यक्ष और प्रोफेसर होकर वहाँ चले गए। इसके एक वर्ष पूर्व सन् 1949 ई. में लखनऊ विश्वविद्यालय ने उनकी हिन्दी की महत्वपूर्ण सेवा के कारण उन्हें डी. लिट्. की सम्मानित उपाधि प्रदान की थी। सन् 1955 ई. में वे प्रथम 'ऑफिशियल लैंग्वेज कमीशन' के सदस्य चुने गये। सन् 1957 ई. में भारत सरकार ने उनकी विद्वत्ता और साहित्यिक सेवाओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलंकृत किया। 1958 ई. में वे नेशनल बुक ट्रस्ट के सदस्य बनाये गए। द्विवेदी जी कई वर्षों तक काशी नागरी प्रचारिणी सभा के उपसभापति, 'खोज विभाग' के निर्देशक तथा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादक रहे हैं। सन् 1960 ई. में पंजाब विश्वविद्यालय के कुलपति के आमंत्रण पर वे वहाँ के 'हिन्दी विभाग' के अध्यक्ष और प्रोफेसर होकर चण्डीगढ़ चले गये। सन् 1968 ई. में ये फिर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बुला लिये गए और वहाँ डायरेक्टर नियुक्त हुए और फिर वहीं हिन्दी के ऐतिहासिक व्याकरण विभाग के निर्देशक नियुक्त हुए। वह काम समाप्त होने पर उत्तर प्रदेश, 'हिन्दी ग्रन्थ अकादमी' के अध्यक्ष हुए।

शब्द-संधान

हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर को भाषा का डिक्टेटर कहते थे, लेकिन उनकी खुद की भाषा में भी वह क्षमता है कि वे पाठक को बहाकर कहीं भी ले जा सकते हैं। प्राय: द्विवेदी जी को संस्कृत का पण्डित मान लिया जाता है, लेकिन उनकी पण्डित्यपूर्ण सहजता पण्डित्य के किसी भी प्रकार के बोझ से

भिन्न है। भाषा के किसी भी साँचे में बँधकर वे अपने आपको सीमित नहीं करते। कालिदास और बाणभट्ट से प्रभावित होते हुए भी उनकी भाषा लोकभूमि का आधार तलाशती है। उनकी भाषा में ऐसा कुछ है, जो हमें खींचता है और सिर्फ खींचता ही नहीं है, बल्कि एक खास तरह से विचलित भी करता है। भाषा में रहते हुए भी भाषा से परे जाने की एक कशमकश उनमें दिखाई पड़ती है।

कवि केदारनाथ सिंह इस संदर्भ में लिखते हैं कि–

'यह परे जाना कई तरह से घटित होता है– कभी कालिदास और बाण के कल्पनालोक में ठोस जीवन मूल्यों की तलाश करते हुए, कभी पुराण, भक्ति काव्य, दंतकथा और रवि ठाकुर की पंक्तियों में अपने समय का अर्थ खोजते हुए और अक्सर अपनी स्मृति की उन सुदूर जड़ों में प्रवेश करते हुए, जो बलिया जनपद से होकर बहने वाली गंगा के सूने कछार में कहीं गहरी धँसी थी। सारे ज्ञान और कल्पनालोक को छान डालने के बाद उनका मन जहाज के पंक्षी की तरह बार-बार उसी कछार में लौटते ही उनकी भाषा सहज (सरल नहीं) हो जाती है– जैसे आदमी घर में जाकर हो जाता है।'

द्विवेदी जी के रचना-संसार में शब्द, शास्त्र और लोक दोनों संदर्भों में अपनी सार्थकता तलाशते हैं। शब्दों का अपना इतिहास होता है और द्विवेदी जी इस इतिहास से खूब वाकिफ थे। इतिहास ही नहीं, उनके भविष्य और वर्तमान को ताड़ने की क्षमता भी उनमें थी। एक बार बिल्थरा मार्ग से गुजरते हुए, उनसे 'बिल्थरा' शब्द की व्युत्पत्ति पूछी गई तो बोले– 'विपुल स्तरा'। फिर व्याख्या की– 'नदी किनारे की भूमि है– हर बाढ़ के बाद मिट्टी की अनेक नई तहों से बनी हुई। इसलिए विपुलस्तरा।' ऐसा शब्द-संधान हजारी प्रसाद द्विवेदी की निजी विशिष्टता थी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के श्रेष्ठ निबंधकार, आलोचक, उपन्यासकार तथा साहित्य के इतिहास के विद्वान् माने जाते हैं। उन्होंने शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना में तो प्रतिमान स्थापित किया ही, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'अनामदास का पोथा' जैसे नई शैली के उपन्यासों की सृष्टि भी की। साहित्य के इतिहास लेखन में उनका एक विशिष्ट स्थान है। इन सबके साथ ही वे हिन्दी निबंध के सशक्त हस्ताक्षर हैं। 'कुटज' द्विवेदी जी के आत्मपरक या व्यक्तिव्यंजक निबंधों का प्रतिनिधित्व करता है। 'कुटज' एक जंगली वनस्पति है, जो हिमालय की विषम पर्वत शृंखलाओं में नीरस एवं शुष्क चट्टानों के बीच भी हरा-भरा रहता है। 'कुटज' स्थितप्रज्ञ है, जीवट है, जीवन का उल्लास और

उमंग उसमें कूट-कूटकर भरा है। द्विवेदी जी ने 'कुटज' की अपराजेयता और जिजीविषा के माध्यम से जीवन धर्मिता को बचाये रखने का संदेश दिया है। अनुभव का सत्य कैसे आस-पास के परिवेश से जुड़ जाता है और उसकी जड़ें कितनी गहरी हैं- इन सभी बिंदुओं को द्विवेजी जी 'कुटज' के बहाने अपनी फक्कड़ाना और गद्य शैली में टटोलते हैं। उनके जीवन के संघर्ष की अभिव्यक्ति तथा उसकी पीड़ा की तल्खी 'कुटज' में सहज ही देखी जा सकती है। 'कुटज' जैसे साधारण और अदना वृक्ष के असाधारणत्व की प्रतिष्ठा असल में मनुष्य के जीवट की प्रतिष्ठा है। 'कुटज' शब्द की व्युत्पत्ति, उसका भारतीय साहित्य और संस्कृति में उल्लेख, उसके प्रति उपेक्षा भाव और विषम व विपरीत परिस्थितियों में उसकी फक्कड़ाना मस्ती, वस्तुतः द्विवेजी जी के जीवन के कई पहलुओं की ओर संकेत करते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी का हिंदी निबंध और आलोचनात्मक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। वे उच्च कोटि के निबंधकार और सफल आलोचक थे। वे जहाँ विद्वत्तापरक अनुसन्धानात्मक निबन्ध लिख सकते थे, वहीं श्रेष्ठ निबन्ध निबन्धों की सृष्टि भी कर सकते थे। उनके निबन्ध निबन्ध हिन्दी निबन्ध साहित्य की मूल्यवान् उपलब्धि हैं। द्विवेदी जी के व्यक्तित्त्व में विद्वत्ता और सरसता का, पाण्डित्य और विदग्धता का, गम्भीरता और विनोदमयता का, प्राचीनता और नवीनता का जो अदभुत संयोग मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

वर्ण्य विषय द्विवेदी जी के निबंधों के विषय भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य, विविध धर्मों और संप्रदायों का विवेचन आदि है। वर्गीकरण की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं-विचारात्मआलोचनात्मक विचारात्मक निबंधों की दो श्रेणियां हैं। प्रथम श्रेणी के निबंधों में दार्शनिक तत्त्वों की प्रधानता रहती है। द्वितीय श्रेणी के निबंध सामाजिक जीवन संबंधी होते हैं। आलोचनात्मक निबंध भी दो श्रेणियों में बाँटें जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में ऐसे निबंध हैं, जिनमें साहित्य के विभिन्न अंगों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है और द्वितीय श्रेणी में वे निबंध आते हैं, जिनमें साहित्यकारों की कृतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार हुआ है। द्विवेदी जी के इन निबंधों में विचारों की गहनता, निरीक्षण की नवीनता और विश्लेषण की सूक्ष्मता रहती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के श्रेष्ठ निबंधकार, आलोचक, उपन्यासकार तथा साहित्य के इतिहास के विद्वान् माने जाते हैं। उन्होंने शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना में तो प्रतिमान स्थापित किया ही,

'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'अनामदास का पोथा' जैसे नई शैली के उपन्यासों की सृष्टि भी की। साहित्य के इतिहास लेखन में उनका एक विशिष्ट स्थान है। इन सबके साथ ही वे हिन्दी निबंध के सशक्त हस्ताक्षर हैं।

'कुटज' द्विवेदी जी के आत्मपरक या व्यक्तिव्यंजक निबंधों का प्रतिनिधित्व करता है। 'कुटज' एक जंगली वनस्पति है, जो हिमालय की विषम पर्वत श्रृंखलाओं में नीरस एवं शुष्क चट्टानों के बीच भी हरा-भरा रहता है। 'कुटज' स्थितप्रज्ञ है, जीवट है, जीवन का उल्लास और उमंग उसमें कूट-कूटकर भरा है। द्विवेदी जी ने 'कुटज' की अपराजेयता और जिजीविषा के माध्यम से जीवन धर्मिता को बचाये रखने का संदेश दिया है। अनुभव का सत्य कैसे आस-पास के परिवेश से जुड़ जाता है और उसकी जड़ें कितनी गहरी हैं- इन सभी बिंदुओं को द्विवेजी जी 'कुटज' के बहाने अपनी फक्कड़ाना और गद्य शैली में टटोलते हैं। उनके जीवन के संघर्ष की अभिव्यक्ति तथा उसकी पीड़ा की तल्खी 'कुटज' में सहज ही देखी जा सकती है। 'कुटज' जैसे साधारण और अदना वृक्ष के असाधारणत्व की प्रतिष्ठा असल में मनुष्य के जीवट की प्रतिष्ठा है। 'कुटज' शब्द की व्युत्पत्ति, उसका भारतीय साहित्य और संस्कृति में उल्लेख, उसके प्रति उपेक्षा भाव और विषम व विपरीत परिस्थितियों में उसकी फक्कड़ाना मस्ती, वस्तुतः द्विवेजी जी के जीवन के कई पहलुओं की ओर संकेत करते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी की कृतियाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी उन विरल रचनाकारों में से थे, जिनकी कृतियाँ उनके जीवन-काल में ही क्लासिक बन जाती हैं। अपनी जन्मजात प्रतिभा के साथ उन्होंने शास्त्रों का अनुशीलन और जीवन को सम्पूर्ण भाव से जीने की साधना करके वह पारदर्शी दृष्टि प्राप्त की थी, जो किसी कथा को आर्षवाणी की प्रतिष्ठा देने में समर्थ होती है। जिस मनीषी ने हजारों साल से कायरता का पाठ दोहराती हुई जाति को ललकार कर कहा था- 'सत्य के लिए किसी से भी न डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।' वह कोई सामान्य कथाकार नहीं है। ऐसा उद्घोष कोई आर्षवक्ता ही कर सकता है।

भारतीय संस्कृति पर विचार

द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति के संदर्भ में लिखा है- 'भारत वर्ष का इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। इसका जितना हिस्सा जाना जा सका है, उससे कहीं अधिक भाग अभी भी ठीक-ठीक नहीं जाना जा सका है। वह पंडितों के

अनुमान का ही विषय है। परंतु इतना निश्चित है कि यह संस्कृति विकासशील रही है। आर्य, द्रविड़, किरात, हूण, शक आदि जातियों के विश्वास और रीति-नीति इसमें मिलते रहे हैं। बहुत-सी पुरानी मान्यताएँ कमजोर होती रही हैं और प्रायः विस्मृत कर दी गई हैं। जिस संस्कृति में इन्द्र, वरुण आदि देवी-देवताओं का प्राधान्य था, यज्ञ-याग का बाहुल्य था, उसमें दूसरे समय शिव, विष्णु आदि देवताओं और पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत आदि का प्राधान्य हो गया।' यह उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि परंपरा एवं संस्कृति की दुहाई देने के नाम पर उनमें कूपमंडूकता रत्ती भर भी नहीं है। बल्कि वे तो संस्कृति की उस अंतर्धारा के वाहक हैं, जो उसमें काई नहीं जमने देती है। यही कारण है कि नामवर जी ने उन्हें दूसरी परंपरा का वाहक माना है।

भारतीय संस्कृति के संदर्भ में द्विवेदी जी ने कर्मफल के महत्वपूर्ण सिद्धांत का उल्लेख किया है और उसे जनता की उदासीनता से जोड़ा है। वे लिखते हैं कि-'कर्मफल के सिद्धांत को मध्य काल में जैसे-जैसे तोड़ा गया, वैसे-वैसे मनुष्य, जागतिक व्यवस्था के प्रति जिज्ञासु होता गया और इसमें संतमत लौकिक विधान व विज्ञान बुद्धि की भूमिका महत्वपूर्ण है। इसने यह बता दिया कि पराधीनता की अवधारणा मध्यकालीन सामंती अवशेष है।'

द्विवेदी जी का मानना है कि कर्मफल के सिद्धांत ने हजारों वर्षों से नीच समझे जाने वाली जातियों में विद्रोह नहीं पनपने दिया तथा समाज-व्यवस्था के प्रति जनता को उदासीन बना दिया। कर्मफल का सिद्धांत वस्तुतः यथास्थिति के पोषण का सिद्धांत है, जो कुछ वर्गों के लिए अत्यंत लाभकारी सिद्ध हुआ, इसीलिए ये वर्ग इस सिद्धांत का समर्थन करते रहे हैं।

चिन्तन का लोक पक्ष हजारी प्रसाद द्विवेदी का सारा चिन्तन विकास की दिशा में अग्रसर होता है। इसी संदर्भ में द्विवेजी जी का लोक चिन्तन भी देखा जा सकता है। उनका चिन्तन जगत के इर्द गिर्द लोक-भूमि पर ही टिका हुआ है। वे लोक को बहुत महत्व देते हैं। यहाँ तक कि यदि लोक और शास्त्र में इन्द्र की स्थिति पैदा हो जाए, तो वे बेझिझक लोक-प्रवादों को ही मान्यता देते हैं। 'आम फिर बौरा गये' शीर्षक निबंध में वे लिखते हैं-

'जब किसी लोक परंपरा के साथ किसी पोथी का विरोध होता है, तो मेरे मन में कुछ नवीन रहस्य पाने की आशा उमड़ उठती है। सब समय नई बात सूझती नहीं, पर हार मैं नहीं मानता।' इस लोक परंपरा की पृष्ठभूमि में ही वे समाज को समझते हैं और बताते हैं कि भारतीय साहित्य धीरे-धीरे ऐहिक

दृष्टिकोण से जुड़ने लगता है। विचार व वितर्क, कल्पलता, विचार-प्रवाह, कुटज, अशोक के फूल आदि अनेक निबंधों में द्विवेजी जी के इस सांस्कृतिक बोध को देखा जा सकता है। संस्कृति व उसकी सामासिकता की बातें इन निबंधों में बार-बार दोहराई गई हैं। कालिदास के संस्कार और कबीर के विचारों से द्विवेदी जी की चेतना को आकार प्राप्त हुआ। वे मानते हैं कि प्रकृति में कोई भी वस्तु परिपूर्ण नहीं है। वह अपने पार्श्व की ओर संकेत करती है, जहाँ स्वयं में एक नया संसार होता है। तभी तो द्विवेदी जी को लगता है कि 'एक-एक फूल, एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी का इतिहास बोध

हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए इतिहास का अर्थ अतीत से लगाव बिल्कुल नहीं था। वे अतीत की चारदीवारी में अपनी सुरक्षा नहीं खोजते बल्कि अतीत से वर्तमान की मुठभेड़ को जरूरी मानते हैं। नामवर जी लिखते हैं कि 'इतिहास उनके लिए एक शव था और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि इस 'शव साधना' में भी उनकी दृष्टि के सम्मुख मनुष्य का भविष्य था।' वस्तुतः द्विवेदी जी में इतिहास का विवेक तो है ही, परंपरा का बोध भी है। परंपरा के भीतर सृजन और संघर्ष का बोध द्विवेदी जी के पूरे चिंतन में है। इसी से उनकी इतिहास दृष्टि निर्मित होती है। द्विवेजी जी ने साहित्येतिहास लेखन की दिशा में जो प्रयास किए हैं, उसमें उनकी इतिहास दृष्टि का स्वरूप ढूँढां जा सकता है। इतिहास वस्तुतः विकास का आंकलन होता है और 'विकास' के पीछे प्रकृति का नियम है। मनोहर 'याम जोशी से बातचीत के क्रम में उनके प्रश्न- 'आपको इतिहास से इतना प्रेम क्यों है'- के उत्तर में द्विवेजी जी कहते हैं कि 'इतिहास मनुष्य की तीसरी आँख है। वह हमें पीछे की ओर झाँकने की क्षमता देता है।' इतिहास बोध और आधुनिकता में गहरा रिश्ता है। इतिहास दृष्टि का आशय है कि हम अपने अतीत को कैसे देखें? द्विवेदी जी मानते हैं कि 'जो इतिहास को स्वीकार न करे, वह आधुनिक नहीं और जो चेतना को न माने वह इतिहास नहीं। प्रायः वर्तमान और समसामयिक को आधुनिक मान लिया जाता है और अतीत को जड़ पुरातन व पारंपरिक।' द्विवेजी जी की यह मान्यता, उनके आधुनिक होने का प्रमाण है। उनकी दृष्टि परंपरा और आधुनिकता में संतुलन बनाकर चलती है। भारत के इतिहास और अतीत में झाँकने की उनकी दृष्टि मूलतः साहित्यिक एवं सांस्कृतिक है।

परंपरा और आधुनिकता का संतुलन

असल में द्विवेदी जी के संस्कार पारंपरिक हैं और मन आधुनिक। इसलिए परंपरा के भीतर वे लगातार अंतर्विरोध और मनुष्य के संघर्ष को तलाशते हैं और इसी के माध्यम से मानव-धर्म को समझने की कोशिश करते हैं। द्विवेदी जी मूलतः मनुष्य हैं, उसके बाद ही कुछ और हैं। वे मनुष्य को बड़ा मानते हैं, क्योंकि मनुष्य में सत्ताओं और नियमों के खिलाफ आवाज उठाने की क्षमता है।

'मेघदूतः एक पुरानी कहानी' (1957) के शुरू में उन्होंने लिखा है- 'मनुष्य इसीलिए बड़ा होता है कि वह गलती कर सकता है। देवता इसलिए बड़ा है कि वह नियम का नियंता है। द्विवेजी जी आधुनिक मनुष्य को पहले के मनुष्य से भिन्न मानते हैं। 'सहज साधना' नाम की पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि 'सृष्टि की लीला में एक तरफ अवतार होता है, दूसरी तरफ उद्धार। कभी कोई प्रभावी होता है, तो कभी कोई लेकिन आधुनिकता ने 'उद्धार' को महत्व दिया है और यही आधुनिक मानवतावाद है, जिसमें व्यष्टि मनुष्य को नहीं, समष्टि-मनुष्य को मुक्त करने की कामना है।' स्पष्ट है कि हजारी प्रसाद द्विवेदी परंपरा के भीतर की हलचल को पकड़कर आधुनिकता से जुड़ जाते हैं। यह एक जीवन्त प्रक्रिया है, जो संग्रह और त्याग के विवेक पर आधारित है। 'परंपरा और आधुनिकता' में वे लिखते हैं कि परंपरा बोध अतीत नहीं है। यहाँ आधुनिकता से गहरा लगाव है, जहाँ सामूहिक मुक्ति के सवाल पैदा होते हैं। इसके तीन लक्षण हैं- ऐतिहासिक दृष्टि पराधीनता से मुक्ति का आग्रहसमष्टि मानव के कल्याण की मंगलकामना द्विवेदी जी के चिन्तन से जो बात निकलकर आती है, वह यह है कि परंपरा मनुष्य को उसके परिपूर्ण रूप में समझने में सहायता देती है। आधुनिकता उसके बिना संभव नहीं है। परंपरा, आधुनिकता को आधार देती है, उसे शुष्क, नीरस और बुद्धि विलास बनने से बचाती है। उसके प्रयासों को अर्थ देती है, उसे असंयत होने से बचाती है। ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं, परस्पर पूरक हैं।

ललित निबंधकार हजारी प्रसाद द्विवेदी

हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के सर्वाधिक सशक्त निबंधकार माने जाते हैं। उनके निबंधों को ललित निबंधों के लिए मानदण्ड स्वीकार किया जा सकता है। निबंध वह विधा है, जहाँ रचनाकार बिना किसी आँड़ के पाठक से बातचीत करता है और इस क्रम में वह पाठक के सामने खुलता चलता जाता है। ललित

निबंध में यह प्रवृत्ति अधिक मुखर होती है, क्योंकि वहाँ आरोपित व्यवस्था का बंधन नहीं होता। व्यक्ति व्यंजक या आत्मपरक निबंधकारों के प्रतिनिधि द्विवेदी जी स्वीकार करते हैं कि 'नये युग में जिस नवीन ढंग के निबंधों का प्रचलन हुआ है, वे तर्कमूलक की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक हैं। ये व्यक्ति की स्वाधीन चिन्ता की उपज हैं। व्यक्तिगत निबंधों के संदर्भ में उनके विचार हैं कि 'व्यक्तिगत निबंध 'निबंध' इसलिए हैं कि वे लेखक के समूचे व्यक्तित्त्व से सम्बद्ध होते हैं। लेखक की सहृदयता और चिन्तनशीलता ही उसके बंधन होते हैं।' आचार्य द्विवेदी का अपने निबंधों के विषय में मत है कि 'इसमें मेरा मनुष्य प्रधान है, शास्त्र गौण।' और जहाँ मनुष्य प्रधान होगा, वहाँ विधा के रूप का दबाव स्वभावतः कम होगा। यही कारण है कि द्विवेदी जी के निबंधों में ललित निबंध की स्वच्छंदता दिखाई पड़ती है। डॉ. विवेकी राय ने उत्कृष्ट ललित निबंध के कुछ बिन्दु माने हैं। पहला तो यह कि उसका इतिवृत्तात्मक आरंभ होता है, अर्थात् वह किस्से-कहानी की तरह हल्के-फुल्के ढंग से शुरू होता है। मध्य में चलकर रचना गंभीर रूप लेती है, जहाँ गहन एवं गंभीर समस्याएं उत्पन्न होती हैं, साथ ही भटकाव भी आते हैं। अनेक प्रकार के विचारों से मुठभेड़ होती है और बीच-बीच में मनोरंजक प्रसंग भी आते हैं। इसके पश्चात् तीसरे स्तर पर लेखक अचानक पाठकों को किसी विचार या चिंतन के महासमुद्र में पहुँचा देता है। द्विवेदी जी के निबंधों में यह सभी विशेषताएँ मिलती हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी की मनोरंजक, हल्की-फुल्की और विनोदपूर्ण लगने वाली उड़ानों के बीच एक गंभीर अन्वेषण की प्रक्रिया चलती रहती है। यह प्रक्रिया असल में आत्मान्वेषण की प्रक्रिया होती है। बात हल्के-फुल्के ढंग से आरंभ होती है, लेकिन विचार-सागर में डूबने-उतराने के क्रम में वह चिन्तन की गंभीर ऊँचाइयों पर पहुँच जाती है। इस प्रक्रिया में पाठक कब शामिल हो जाता है, उसे पता ही नहीं चलता। 'कुटज' अथवा 'देवदारू' में आत्मान्वेषण की यह प्रक्रिया जब चलती है, तो पाठक का 'आत्म' भी उसी उद्दाम जिजीविषा से अनुप्रेरित होने लगता है। तब 'कुटज' और 'देवदारू' में पाठक अपना स्वरूप भी अन्वेषित करने लगता है। ललित निबंधों की मुद्रा परम्परावादी नहीं, विद्रोही है। वह निबंध की उस परम्परा को तोड़ती है, जहाँ व्यवस्था और अनुशासन है। ललित निबंधों की कलेवर तो स्वच्छंदता और भटकाव से बनता है। पाठक के मन को बाँधने के लिए वे स्वयं निबंध और स्वच्छंद हो जाते हैं। यही शैली और यही मुद्रा द्विवेदी जी के निबंधों की भी है। उनमें कल्पना की उड़ान और

संवेदनात्मक अनुभूति की तरलता तो है ही, साथ ही विचार-विश्लेषण और चिंतन का प्रवाह भी है। उनके व्यक्तिनिष्ठ निबंधों की पृष्ठभूमि में यथार्थ की चोट महसूस की जा सकती है। ललित निबंध के भूगोल में कविता की तरलता और कहानी का उतार-चढ़ाव भी विद्यमान होता है। गंभीर विचार-प्रवाह और सांस्कृतिक दृष्टि के साथ-साथ इसमें कवित्वमयता, रमणीयता, लेखक-व्यक्तित्त्व की प्रतिछाया, आत्मपरकता, कल्पना की उड़ान, विनोदपूर्ण शैली, इतिवृत्तात्मक आरंभ और किस्से कहानी जैसी उठान की मुद्रा होती है। ललित निबंध का कहानीपन सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करता है। इसने नई कहानी तथा उपन्यास को भी प्रभावित किया। इस दौर में ललित निबंध में कहानी से अधिक कहानी में ललित निबंध की घुसपैठ हुई है। यह ललित निबंध की लोकप्रियता का प्रमाण है। द्विवेदी जी के अन्य निबंधों के साथ-साथ 'बसंत आ गया है' में इस कहानीपन की मुखर उपस्थिति है। वस्तुतः ललित निबंध की सभी विशिष्टताओं को द्विवेदी जी के निबंधों में उनके सर्वोत्तम रूप में देखा जा सकता है। इसलिए द्विवेदी जी को ललित निबंधों के लिए मानदंड मानना उचित ही है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी की उपलब्धियाँ तथा पुरस्कार

हजारी प्रसाद द्विवेदी इतिहास, मनुष्य और लोक को केंद्र में रखकर भारत की भाषा समस्या पर मौलिक चिंतन करने वाले लोकवादी भाषा चिंतक और भाषा नियोजक थे। उनका कहना था कि- 'भाषा का मूलभूत प्रयोजन है संप्रेषण। भाषा साधारणतः शब्दों के सामान्य अर्थ का ही कारोबार करती है। प्रत्येक शब्द जिस अर्थ को अभिव्यक्त करता है, वह सामान्य अर्थ होता है। परंतु संवेदनशील रचनात्मक साहित्यकार, सामान्य अर्थों से संतुष्ट नहीं होता। वह सामान्य अर्थों को व्यक्त करने वाली भाषा के माध्यम से ही अपनी विशिष्ट अनुभूतियों को लोकचित्त में संप्रेषित करने के लिए व्याकुल रहता है।'

सम्मान व पुरस्कार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को निम्न पुरस्कार तथा सम्मान प्रदान किये गए थे- मंगला प्रसाद पुरस्कार (1947)

हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा साहित्य वाचस्पति की उपाधि तथा लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा डी. लिट. की मानद उपाधि (1949)पद्म भूषण (1957)

साहित्य अकादमी का टैगोर पुरस्कार (1962)रवीन्द्र भारती का टैगोर पुरस्कार (1973)साहित्य अकादमी पुरस्कार (1973)

हजारी प्रसाद द्विवेदी का जीवन यूँ ही कई अर्थों में गतिमान रहा। इसी दौरान उनकी साहित्य यात्रा भी जारी रही। 'वैष्णव कवियों की रूपोपासना' (1933) को उनका पहला प्रकाशित लेख माना जाता है। मालवीय जी के पत्र 'सनातन धर्म' में उन्होंने 1927 से 1939 के बीच 'व्योमकेश शास्त्री' के उपनाम से ज्योतिष पर कई लेख लिखे थे। इसी नाम को लक्ष्य करके पं. विद्यानिवास मिश्र ने उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी स्मृति में एक कविता लिखी थी, जिसकी आरंभिक पंक्तियां इस प्रकार हैं-'व्योमकेश बादल वह, उमड़ घुमड़-छाया, लहराया, बरसा, चला गया। इसी वर्षा बादल के वेश में वह बादल मादल मृदंग के स्वरों का सेतु था।' मिश्र जी की यह कविता द्विवेदी जी की सरसता और सहजता के साथ-साथ उनके सांस्कृतिक एवं लोकतत्त्व को भी पकड़ती है।

प्रमुख रूप से आलोचक, इतिहासकार और निबंधकार के रूप में प्रख्यात द्विवेजी जी की कवि हृदयता यूं तो उनके उपन्यास, निबंध और आलोचना के साथ-साथ इतिहास में भी देखी जा सकती है, लेकिन एक तथ्य यह भी है कि उन्होंने बड़ी मात्रा में कविताएँ लिखी हैं। उनकी काव्यात्मकता को उनकी भावुकता का भाषिक पर्याय माना जा सकता है। उनके जीवन के संघर्ष अद्‌भुत संस्कारों को उन्हीं की इस कविता के माध्यम से जाना सकता है-

'रजनी-दिन नित्य चला ही किया मैं अनंत की गोद में खेला हुआ
चिरकाल न वास कहीं भी किया किसी आँधी से नित्य धकेला हुआ
न थका न रुका न हटा न झुका किसी फक्कड़ बाबा का चेला हुआ
मद चूता रहा तन मस्त बना अलबेला मैं ऐसा अकेला हुआ।'

3

रामकुमार वर्मा

रामकुमार वर्मा (अंग्रेजी Ram Kumar Verma, जन्मः 15 सितंबर, 1905य मृत्युः 1990) आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'एकांकी सम्राट' के रूप में जाने जाते हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा हिन्दी भाषा के सुप्रसिद्ध साहित्यकार, व्यंग्यकार और हास्य कवि के रूप में जाने जाते हैं। रामकुमार वर्मा की हास्य और व्यंग्य दोनों विधाओं में समान रूप से पकड़ है। नाटककार और कवि के साथ-साथ उन्होंने समीक्षक, अध्यापक तथा हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक के रूप में भी हिन्दी साहित्य-सर्जन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। रामकुमार वर्मा एकांकीकार, आलोचक और कवि हैं। इनके काव्य में 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' की झलक है।जीवन परिचय डॉ. रामकुमार वर्मा का जन्म मध्य प्रदेश के सागर जिले में 15 सितंबर सन् 1950 ई. में हुआ। इनके पिता लक्ष्मी प्रसाद वर्मा डिप्टी कलेक्टर थे। वर्माजी को प्रारम्भिक शिक्षा इनकी माता श्रीमती राजरानी देवी ने अपने घर पर ही दी, जो उस समय की हिन्दी कवयित्रियों में विशेष स्थान रखती थीं। बचपन में इन्हें 'कुमार' के नाम से पुकारा जाता था। रामकुमार वर्मा में प्रारम्भ से ही प्रतिभा के स्पष्ट चिह्न दिखाई देते थे। ये सदैव अपनी कक्षा में प्रथम आया करते थे। पठन-पाठन की प्रतिभा के साथ ही साथ रामकुमार वर्मा शाला के अन्य कार्यों में भी काफी सहयोग देते थे। अभिनेता बनने की रामकुमार वर्मा की बड़ी प्रबल इच्छा थी। अतएव इन्होंने अपने विद्यार्थी

जीवन में कई नाटकों में एक सफल अभिनेता का कार्य किया है। रामकुमार वर्मा सन् 1922 ई. में दसवीं कक्षा में पहुँचे। इसी समय प्रबल वेग से असहयोग की आँधी उठी और रामकुमार वर्मा राष्ट्र सेवा में हाथ बँटाने लगे तथा एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता के रूप में जनता के सम्मुख आये। इसके बाद वर्माजी ने पुनः अध्ययन प्रारम्भ किया और सब परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करते हुए प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी विषय में एम. ए. में सर्वप्रथम आये। रामकुमार वर्मा ने नागपुर विश्वविद्यालय की ओर से 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पर पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। अनेक वर्षों तक रामकुमार वर्मा प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक तथा फिर अध्यक्ष रहे हैं।

सुप्रसिद्ध कवि

रामकुमार वर्मा आधुनिक हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि, एकांकी नाटक-लेखक और आलोचक हैं। 'चित्ररेखा' काव्य-संग्रह पर इन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ 'देव पुरस्कार' मिला है। साथ ही 'सप्त किरण' एकांकी संग्रह पर अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन पुरस्कार और मध्यप्रदेश शासन परिषद से 'विजयपर्व' नाटक पर प्रथम पुरस्कार मिला है। रामकुमार वर्मा रूसी सरकार के विशेष आमंत्रण पर मास्को विश्वविद्यालय के अंतर्गत प्रायः एक वर्ष तक शिक्षा कार्य कर चुके हैं। हिन्दी एकांकी के जनक रामकुमार वर्मा ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर 150 से अधिक एकांकी लिखीं। भगवतीचरण वर्मा ने कहा था, 'डॉ. रामकुमार वर्मा रहस्यवाद के पंडित हैं। उन्होंने रहस्यवाद के हर पहलू का अध्ययन किया है। उस पर मनन किया है। उसको समझना हो और उसका वास्तविक और वैज्ञानिक रूप देखना हो तो उसके लिए श्री वर्मा की 'चित्ररेखा' सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रंथ होगा।'

नाटककार रामकुमार वर्मा का व्यक्तित्त्व कवि-व्यक्तित्त्व से अधिक शाक्तिशाली और लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। नाटककार धरातल से उनका एकांकीकार स्वरूप ही उनकी विशेष महत्ता है और इस दिशा में वे आधुनिक हिन्दी एकांकी के जनक कहे जाते हैं, जो निर्विवाद सत्य है। प्रारम्भिक प्रभाव की दृष्टि से इन पर शा, इब्सन मैटरलिंक, चेखब आदि का विशेष प्रभाव पड़ा है, किंतु यह सत्य है कि डॉ. वर्मा इस क्षेत्र में, विशेषकर मनोवेगों की अभिव्यक्ति और अपने दृष्टिकोण में सदा मौलिक और भारतीय रहे हैं। 'बादल की मृत्यु' इनका सर्वप्रथम एकांकी नाटक था, जो 1930 ई. में 'विश्वामित्र' में

प्रकाशित हुआ था। इसके बाद डॉ. वर्मा ने क्रमशः दस मिनट, नहीं का रहस्य, पृथ्वीराज की आँखें, चम्पक और एक्ट्रेस आदि नाटकों (एकांकी) की रचना की तथा इस उदय के बाद इनका एकांकीकार व्यक्तित्त्व आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य का प्रकाश-स्तभ हो गया। कृतित्त्व रेशमीटाई के उपरांत डॉ. वर्मा के कृतित्त्व में एक विशेष धारा ऐतिहासिक एकांकियों की विकसित हुई, जिसमें डॉ. रामकुमार एक ऐसे आदर्शवादी कलाकार के रूप में हिन्दी नाटय जगत् के सामने आये, जिनमें उनके सांस्कृतिक और साहित्यिक मान्यताओं का सुन्दरतम समंवय स्थापित हुआ है। वे कलुष के भीतर से पवित्रता, दैन्य के भीतर से शालीनता, वासना के भीतर से आत्मसंयम एवं क्षुद्रता से महानता का अंवेषण करने में समर्थ हुए हैं और यह सब उन्होंने पात्रों और परिस्थितियों के संघर्ष से स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है। डॉ. वर्मा ने एकांकी विधा का सृजन करके साहित्य में प्रयोगवाद को बढ़ावा दिया। डॉ. धर्मवीर भारती, अजित कुमार, जगदीश गुप्त, मार्कण्डेय, दुष्यंत कुमार, राजनारायण, कन्हैयालाल नंदन, रमानाथ अवस्थी, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, उमाकांत मालवीय और स्वयं मैं उनका छात्र रहा हूँ। कमलेश्वर आलोचक रामकुमार वर्मा एकांकीकार, आलोचक और कवि हैं। इनके काव्य में रहस्यवाद और छायावाद की झलक है। आलोचना के क्षेत्र में रामकुमार वर्मा की कबीर विषयक खोज और उनके पदों का प्रथम शुद्ध पाठ तथा कबीर के रहस्यवाद और योगसाधना की पद्धति की समालोचना विशेष उपलब्धि है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन क्षेत्र में उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (1938 ई.) का विशेष महत्त्व है। सामाजिक तथा शाक्तियों के अध्ययन परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य के आदि युग और मध्य युग को समग्र रूप में देखने का यह पहला सफल प्रयास है। इसके अतिरिक्त काव्य, कला और साहित्य के विभिन्न अंगों तथा माध्यमों पर ललित लेख डॉ. वर्मा के निबन्धकार व्यक्तित्त्व के सुन्दरतम उदाहरण हैं। ''जिस देश के पास हिंदी जैसी मधुर भाषा है वह देश अंग्रेजी के पीछे दीवाना क्यों है? स्वतंत्र देश के नागरिकों को अपनी भाषा पर गर्व करना चाहिए। हमारी भावभूमि भारतीय होनी चाहिए। हमें जूठन की ओर नहीं ताकना चाहिए'' हिंदी को लेकर यह पीड़ा अपनी भाषा के प्रति गहरी प्रतिबद्धता और आस्था रखने वाले डॉ रामकुमार वर्मा की है। हिंदी एकांकी के जनक हिंदी की लघु नाट्य परंपरा को एक नया मोड़ देने वाले डॉ. रामकुमार वर्मा आधुनिक हिंदी साहित्य में 'एकांकी सम्राट' के रूप में समादृत हैं। उन्होंने हिंदी नाटक को एक नया संरचनात्मक आदर्श सौंपा। नाट्य कला के

विकास की संभावनाओं के नए पाट खोलते हुए नाट्य साहित्य को जन-जीवन के निकट पहुँचा दिया। नाटककार और कवि के साथ-साथ उन्होंने समीक्षक, अध्यापक तथा हिंदी साहित्येतिहास-लेखक के रूप में भी हिंदी साहित्य-सृजन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नाटककार के रूप में उन्होंने मनोविज्ञान के अनेकानेक स्तरों पर मानव-जीवन की विविध संवेदनाओं को स्वर दिया तो छायावादी कवियों की कतार में खड़े होकर रहस्य और अध्यात्म की पृष्ठभूमि में अपने काव्यात्मक संस्कारों को विकसित कर रहस्यमयी जगत् के स्वप्नों में सहृदय को प्रवेश कराया।

डॉ. वर्मा के साहित्यिक व्यक्तित्त्व को नाटककार और कवि के रूप में अधिक प्रमुखता मिली सन् 1930 में रचित 'बादल की मृत्यु' उनका पहला एकांकी है, जो फेंटेसी के रूप में अत्यंत लोकप्रिय हुआ। भारतीय आत्मा और पाश्चात्य तकनीक के समन्वय से उन्होंने हिंदी एकांकी कला को निखार दिया। उन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक दो तरह के एकांकी नाटकों की सृष्टि की। ऐतिहासिक नाटकों में उन्होंने भारतीय इतिहास से स्वर्णिम पृष्ठों से नाटकों की विषय-वस्तु को ग्रहण कर चरित्रों की ऐसी सुदृढ़ रूप रेखा प्रस्तुत की जो पाठकों में उच्च चारित्रिक संस्कार भर सके और सामयिक जीवन की समस्याओं को समाधान की दिशा दे सके। उनके नाटक भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय उद्‌बोधन के स्वर बखूबी समेटे हुए हैं। गर्व के साथ वे कहते हैं, 'ऐतिहासिक एकांकियों में भारतीय संस्कृति का मेरुदंड-नैतिक मूल्यों में आस्था और विश्वास का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।' उनके सामाजिक एकांकी प्रेम और सेक्स की समस्याओं से संबंधित हैं। ये एकांकी मानसिक अंतईन्द की आधार भूमि पर यथार्थवादी कलेवर में समाज और जीवन की वस्तु-स्थिति तक पहुँचते हैं। पर इन एकांकियों में लेखक की आदर्शवादी सोच इतनी गहरी है कि वे आदर्शवादी झोंक में यथार्थ को मनमाना नाटकीय मोड़ दे बैठते हैं। इसलिए उनके स्त्री पात्र शिक्षा और नए संस्कारों के बावजूद प्रेम और जीवन के संघर्ष में जीवन का मोह त्यागकर प्रेम के लिए उत्सर्ग कर बैठते हैं मानो उत्सर्ग या प्राणांत ही सच्चे प्रेम की कसौटी हो। आधुनिक पात्रों पर भी लेखक ने अपनी आदर्शवादी सोच को थोप दिया है।

डॉ. रामकुमार वर्मा बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। लेखन की ऐसी कोई विधा नहीं जो उनकी कलम से अछूती रह गई हो। कभी कवि तो कभी एकांकीकार, कभी नाटककार तो कभी संपादक, कभी शोधकर्ता तो कभी

साहित्य के इतिहास लेखक, न जाने कितने-कितने रूपों में इस कृतिकार ने हिंदी के साहित्य आकाश को अपनी आभा से चमत्कृत किया। 101 से अधिक कृतियाँ उनकी सृजनशीलता का दस्तावेज हैं। कोई उन्हें नाटक सम्राट मानता है तो कोई हिंदी एकांकी का जनक। कोई कहता है आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद अगर किसी ने प्रमाणिक हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा है तो वे डॉ रामकुमार वर्मा ही है। सच तो यह है कि किसी एक व्यक्ति का साहित्य की इतनी विधाओं पर ऐसा अधिकार होना आलोचकों के लिए हैरत का प्रश्न है। महात्मा बुद्ध, भगवान महावीर, अशोक, समुद्र गुप्त, चंद्रगुप्त और शिवाजी से लेकर 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के महानायकों तक सभी उनके नाटकों के पात्र रहे हैं। अपने 26 से अधिक नाटकों के माध्यम से वे देशवासियों में भारतीयता, देश प्रेम और इतिहास से प्रेरणा लेने की चेतना भरते रहे हैं। साहित्यकार कमलेश्वर कहते हैं,डॉ. वर्मा ने एकांकी विधा का सृजन करके साहित्य में प्रयोगवाद को बढ़ावा दिया। डॉ. धर्मवीर भारती, अजित कुमार, जगदीश गुप्त, मार्कण्डेय, दुष्यंत कुमार, राजनारायण, कन्हैयालाल नंदन, रमानाथ अवस्थी, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, उमाकांत मालवीय और स्वयं मैं उनका छात्र रहा हूँ। ऐतिहासिक नाटकों का यही सृष्टा जब भावुक हो उठा तो उसके कवि मन से 'एकलव्य', 'उत्तरायण', एवं 'ओ अहल्या' जैसे कालजई सांस्कृतिक महाकाव्य लिख डाले। हिंदी एकांकी के इस जनक ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर रंगमंच पर खेले जा सकने वाले 150 से अधिक एकांकी लिख सबको हतप्रभ कर दिया। यही वजह थी कि भगवतीचरण वर्मा ने कहा था, '' डॉ. रामकुमार वर्मा रहस्यवाद के पंडित हैं। उन्होंने रहस्यवाद के हर पहलू का अध्ययन किया है। उस पर मनन किया है। उसको समझना हो और उसका वास्तविक और वैज्ञानिक रूप देखना हो तो उसके लिए श्री वर्मा की 'चित्ररेखा' सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रंथ होगा''

4

राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन जिन्हें महापंडित की उपाधि दी जाती है हिन्दी के एक प्रमुख साहित्यकार थे। वे एक प्रतिष्ठित बहुभाषाविद् थे और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में उन्होंने यात्रा वृतांत/यात्रा साहित्य तथा विश्व-दर्शन के क्षेत्र में साहित्यिक योगदान किए। वह हिंदी यात्रा सहित्य के पितामह कहे जाते हैं। बौद्ध धर्म पर उनका शोध हिन्दी साहित्य में युगान्तरकारी माना जाता है, जिसके लिए उन्होंने तिब्बत से लेकर श्रीलंका तक भ्रमण किया था। इसके अलावा उन्होंने मध्य-एशिया तथा कॉकेशस भ्रमण पर भी यात्रा वृतांत लिखे जो साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। 21वीं सदी के इस दौर में जब संचार-क्रान्ति के साधनों ने समग्र विश्व को एक 'ग्लोबल विलेज' में परिवर्तित कर दिया हो एवं इण्टरनेट द्वारा ज्ञान का समूचा संसार क्षण भर में एक क्लिक पर सामने उपलब्ध हो, ऐसे में यह अनुमान लगाना कि कोई व्यक्ति दुर्लभ ग्रन्थों की खोज में हजारों मील दूर पहाड़ों व नदियों के बीच भटकने के बाद, उन ग्रन्थों को खच्चरों पर लादकर अपने देश में लाए, रोमांचक लगता है। पर ऐसे ही थे भारतीय मनीषा के अग्रणी विचारक, साम्यवादी चिन्तक, सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत, सार्वदेशिक दृष्टि एवं घुमक्कड़ी प्रवृत्ति के महान पुरूष राहुल सांकृत्यायन।

राहुल सांकृत्यायन के जीवन का मूलमंत्र ही घुमक्कड़ी यानी गतिशीलता रही है। घुमक्कड़ी उनके लिए वृत्ति नहीं वरन् धर्म था। आधुनिक हिन्दी साहित्य

में राहुल सांकृत्यायन एक यात्राकार, इतिहासविद्, तत्त्वान्वेषी, युगपरिवर्तनकार साहित्यकार के रूप में जाने जाते हैं।

राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन का जन्म उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पंदहा गाँव में 9 अप्रैल 1893 को हुआ था। उनके बाल्यकाल का नाम केदारनाथ पाण्डेय था। उनके पिता गोवर्धन पाण्डेय एक धार्मिक विचारों वाले किसान थे। उनकी माता कुलवंती अपने माता-पिता की अकेली पुत्री थीं। दीप चंद पाठक कुलवंती के छोटे भाई थे। वह अपने माता-पिता के साथ रहती थीं। बचपन में ही इनकी माता का देहांत हो जाने के कारण इनका पालन-पोषण इनके नाना श्री राम शरण पाठक और नानी ने किया था। 1898 में इन्हे प्राथमिक शिक्षा के लिए गाँव के ही एक मदरसे में भेजा गया। राहुल जी का विवाह बचपन में कर दिया गया। यह विवाह राहुल जी के जीवन की एक संक्रान्तिक घटना थी। जिसकी प्रतिक्रिया में राहुल जी ने किशोरावस्था में ही घर छोड़ दिया। घर से भाग कर ये एक मठ में साधु हो गए। लेकिन अपनी यायावरी स्वभाव के कारण ये वहाँ भी टिक नही पाये। चौदह वर्ष की अवस्था में ये कलकत्ता भाग आए। इनके मन में ज्ञान प्राप्त करने के लिए गहरा असंतोष था। इसीलिए यहाँ से वहाँ तक सारे भारत का भ्रमण करते रहे। राहुल जी का समग्र जीवन ही रचनाधर्मिता की यात्रा थी। जहाँ भी वे गए वहाँ की भाषा व बोलियों को सीखा और इस तरह वहाँ के लोगों में घुलमिल कर वहाँ की संस्कृति, समाज व साहित्य का गूढ़ अध्ययन किया। राहुल सांकृत्यायन उस दौर की उपज थे जब ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था और राजनीति सभी संक्रमणकालीन दौर से गुजर रहे थे। वह दौर समाज सुधारकों का था एवं कॉग्रेस अभी शैशवावस्था में थी। इन सब से राहुल अप्रभावित न रह सके एवं अपनी जिज्ञासु व घुमक्कड़ प्रवृत्ति के चलते घर-बार त्याग कर साधु वेषधारी संन्यासी से लेकर वेदान्ती, आर्यसमाजी व किसान नेता एवं बौद्ध भिक्षु से लेकर साम्यवादी चिन्तक तक का लम्बा सफर तय किया। सन् 1930 में श्रीलंका जाकर वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये एवं तभी से वे 'रामोदर साधु' से 'राहुल' हो गये और सांकृत्य गोत्र के कारण सांकृत्यायन कहलाये। उनकी अद्भुत तर्कशक्ति और अनुपम ज्ञान भण्डार को देखकर काशी के पंडितों ने उन्हें महापंडित की उपाधि दी एवं इस प्रकार वे केदारनाथ पाण्डे से महापंडित राहुल सांकृत्यायन हो गये। सन् 1937 में रूस

के लेनिनग्राद में एक स्कूल में उन्होंने संस्कृत अध्यापक की नौकरी कर ली और उसी दौरान ऐलेना नामक महिला से दूसरी शादी कर ली, जिससे उन्हें इगोर राहुलोविच नामक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। छत्तीस भाषाओं के ज्ञाता राहुल ने उपन्यास, निबंध, कहानी, आत्मकथा, संस्मरण व जीवनी आदि विधाओं में साहित्य सृजन किया परन्तु अधिकांश साहित्य हिन्दी में ही रचा। राहुल तथ्यान्वेषी व जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे सो उन्होंने हर धर्म के ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। अपनी दक्षिण भारत यात्रा के दौरान संस्कृत-ग्रन्थों, तिब्बत प्रवास के दौरान पालि-ग्रन्थों तो लाहौर यात्रा के दौरान अरबी भाषा सीखकर इस्लामी धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया। निश्चितत: राहुल सांकृत्यायन की मेधा को साहित्य, अध्यात्म, ज्योतिष, विज्ञान, इतिहास, समाज शास्त्र, राजनीति, भाषा, संस्कृति, धर्म एवं दर्शन के टुकड़ों में बाँटकर नहीं देखा जा सकता वरन् समग्रत: ही देखना उचित है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन का बौद्ध-धर्म की ओर झुकाव

1916 तक आते-आते इनका झुकाव बौद्ध -धर्म की ओर होता गया। बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर, वे राहुल सांकृत्यायन बने। बौद्ध धर्म में लगाव के कारण ही ये पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, आदि भाषाओ के सीखने की ओर झुके। 1917 की रुसी क्रांति ने राहुल जी के मन को गहरे में प्रभावित किया। वे अखिल भारतीय किसान सभा के महासचिव भी रहे। उन्होंने तिब्बत की चार बार यात्रा की और वहा से विपुल साहित्य ले कर आए। 1932 को राहुल जी यूरोप की यात्रा पर गए। 1935 में जापान, कोरिया, मंचूरिया की यात्रा की। 1937 में मास्को में यात्रा के समय भारतीय-तिब्बत विभाग की सचिव लोला येलेना से इनका प्रेम हो गया और वे वहीं विवाह कर के रूस में ही रहने लगे। लेकिन किसी कारण से वे 1948 में भारत लौट आए। राहुल जी को हिन्दी और हिमालय से बड़ा प्रेम था। वे 1950 में नैनीताल में अपना आवास बना कर रहने लगे। यहाँ पर उनका विवाह कमला सांकृत्यायन से हुआ। इसके कुछ बर्षो बाद वे दार्जिलिंग (पश्चिम बंगाल) में जाकर रहने लगे, लेकिन बाद में उन्हें मधुमेह से पीड़ित होने के कारण रूस में इलाज कराने के लिए भेजा गया। 1963 में सोवियत रूस में लगभग सात महीनो के इलाज के बाद भी उनका स्वास्थ्य ठीक नही हुआ। 14 अप्रैल 1963 को उनका दार्जिलिंग (पश्चिम बंगाल) में देहांत हो गया।

साहित्यिक रुझान राहुल जी वास्तव के ज्ञान के लिए गहरे असंतोष में थे, इसी असंतोष को पूरा करने के लिए वे हमेशा तत्पर रहे। उन्होंने हिन्दी साहित्य को विपुल भण्डार दिया। उन्होंने मात्र हिन्दी साहित्य के लिए ही नही बल्कि वे भारत के कई अन्य क्षेत्रों के लिए भी उन्होंने शोध कार्य किया। वे वास्तव में महापंडित थे। राहुल जी की प्रतिभा बहुमुखी थी और वे संपन्न विचारक थे। धर्म, दर्शन, लोकसाहित्य, यात्रासहित्य, इतिहास, राजनीति, जीवनी, कोष, प्राचीन ग्रंथो का संपादन कर उन्होंने विविध क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य किया। उनकी रचनाओ में प्राचीन के प्रति आस्था, इतिहास के प्रति गौरव और वर्तमान के प्रति सधी हुई दृष्टि का समन्वय देखने को मिलता है। यह केवल राहुल जी थे, जिन्होंने प्राचीन और वर्तमान भारतीय साहित्य चिंतन को पूर्ण रूप से आत्मसात् कर मौलिक दृष्टि देने का प्रयास किया। उनके उपन्यास और कहानियाँ बिल्कुल नए दृष्टिकोण को हमारे सामने रखते हैं। तिब्बत और चीन के यात्रा काल में उन्होंने हजारों ग्रंथों का उद्धार किया और उनके सम्पादन और प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त किया, ये ग्रन्थ पटना संग्रहालय में है। यात्रा साहित्य में महत्वपूर्ण लेखक राहुल जी रहे हैं। उनके यात्रा वृतांत में यात्रा में आने वाली कठिनाइयों के साथ उस जगह की प्राकृतिक सम्पदा, उसका आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन और इतिहास अन्वेषण का तत्त्व समाहित होता है। 'किन्नर देश की ओर', 'कुमाऊ', 'दार्जिलिंग परिचय' तथा 'यात्रा के पन्ने' उनके ऐसे ही ग्रन्थ है।

राहुल सांकृत्यायन का मानना था कि घुमक्कड़ी मानव-मन की मुक्ति का साधन होने के साथ-साथ अपने क्षितिज विस्तार का भी साधन है। उन्होंने कहा भी था कि- 'कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ों, संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।' राहुल ने अपनी यात्रा के अनुभवों को आत्मसात् करते हुए 'घुमक्कड़ शास्त्र' भी रचा। वे एक ऐसे घुमक्कड़ थे जो सच्चे ज्ञान की तलाश में था और जब भी सच को दबाने की कोशिश की गई तो वह बागी हो गया। उनका सम्पूर्ण जीवन अन्तर्विरोधों से भरा पड़ा है। वेदान्त के अध्ययन के पश्चात जब उन्होंने मंदिरों में बलि चढ़ाने की परम्परा के विरूद्ध व्याख्यान दिया तो अयोध्या के सनातनी पुरोहित उन पर लाठी लेकर टूट पड़े। बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बावजूद वह इसके 'पुनर्जन्मवाद' को नहीं स्वीकार पाए। बाद में जब वे मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुए तो उन्होंने तत्कालीन सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी में घुसे सत्तालोलुप सुविधापरस्तों की तीखी आलोचना की और उन्हें आन्दोलन के नष्ट होने का कारण बताया। सन् 1947 में अखिल भारतीय साहित्य

सम्मेलन के अध्यक्ष रूप में उन्होंने पहले से छपे भाषण को बोलने से मना कर दिया एवं जो भाषण दिया, वह अल्पसंख्यक संस्कृति एवं भाषाई सवाल पर कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों के विपरीत था। नतीजन पार्टी की सदस्यता से उन्हें वंचित होना पड़ा, पर उनके तेवर फिर भी नहीं बदले। इस कालावधि में वे किसी बंदिश से परे प्रगतिशील लेखन के सरोकारों और तत्कालीन प्रश्नों से लगातार जुड़े रहे। इस बीच मार्क्सवादी विचारधारा को उन्होंने भारतीय समाज की ठोस परिस्थितियों का आकलन करके ही लागू करने पर जोर दिया। अपनी पुस्तक 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' एवं 'दर्शन-दिग्दर्शन' में इस सम्बन्ध में उन्होंने सम्यक् प्रकाश डाला। अन्ततः सन् 1953-54 के दौरान पुनः एक बार वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बनाये गये। एक कर्मयोगी योद्धा की तरह राहुल सांकृत्यायन ने बिहार के किसान-आन्दोलन में भी प्रमुख भूमिका निभाई। सन् 1940 के दौरान किसान-आन्दोलन के सिलसिले में उन्हें एक वर्ष की जेल हुई तो देवली कैम्प के इस जेल-प्रवास के दौरान उन्होंने 'दर्शन-दिग्दर्शन' ग्रन्थ की रचना कर डाली। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के पश्चात् जेल से निकलने पर किसान आन्दोलन के उस समय के शीर्ष नेता स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक पत्र 'हुंकार' का उन्हें सम्पादक बनाया गया।

ब्रिटिश सरकार ने फूट डालो और राज करो की नीति अपनाते हुए गैर कांग्रेसी पत्र-पत्रिकाओं में चार अंकों हेतु 'गुण्डों से लड़िए' शीर्षक से एक विज्ञापन जारी किया। इसमें एक व्यक्ति गाँधी टोपी व जवाहर बण्डी पहने आग लगाता हुआ दिखाया गया था। राहुल सांकृत्यायन ने इस विज्ञापन को छापने से इन्कार कर दिया पर विज्ञापन की मोटी धनराशि देखकर स्वामी सहजानन्द ने इसे छापने पर जोर दिया। अन्ततः राहुल ने अपने को पत्रिका के सम्पादन से ही अलग कर लिया। इसी प्रकार सन् 1940 में 'बिहार प्रान्तीय किसान सभा' के अध्यक्ष रूप में जमींदारों के आतंक की परवाह किए बिना वे किसान सत्याग्रहियों के साथ खेतों में उतर हँसिया लेकर गन्ना काटने लगे। प्रतिरोध स्वरूप जमींदार के लठैतों ने उनके सिर पर वार कर लहुलुहान कर दिया पर वे हिम्मत नहीं हारे। इसी तरह न जाने कितनी बार उन्होंने जनसंघर्षों का सक्रिय नेतृत्व किया और अपनी आवाज को मुखर अभिव्यक्ति दी। महापंडित राहुल सांकृत्यायनग्यारह वर्ष की उम्र में हुए अपने विवाह को नकारकर वे बता चुके थे कि उनके अंतःकरण में कहीं न कहीं विद्रोह के बीजों का वपन हुआ है। यायावरी और विद्रोह ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ कालांतर में विकसित हो गईं, जिसके कारण पंदहा गाँव, आजमगढ़

में जन्मा यह केदारनाथ पांडेय नामक बालक देशभर में महापंडित राहुल सांकृत्यायन के नाम से प्रख्यात हो गया। राहुल सांकृत्यायन सदैव घुमक्कड़ ही रहे। सन् 1923 से उनकी विदेश यात्राओं का सिलसिला शुरू हुआ तो फिर इसका अंत उनके जीवन के साथ ही हुआ। ज्ञानार्जन के उद्देश्य से प्रेरित उनकी इन यात्राओं में श्रीलंका, तिब्बत, जापान और रूस की यात्राएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। वे चार बार तिब्बत पहुँचे। वहाँ लम्बे समय तक रहे और भारत की उस विरासत का उद्धार किया, जो हमारे लिए अज्ञात, अलभ्य और विस्मृत हो चुकी थी। अध्ययन-अनुसंधान की विभा के साथ वे वहाँ से प्रभूत सामग्री लेकर लौटे, जिसके कारण हिन्दी भाषा एवं साहित्य की इतिहास संबंधी कई पूर्व निर्धारित मान्यताओं एवं निष्कर्षों में परिवर्तन होना अनिवार्य हो गया। साथ ही शोध एवं अध्ययन के नए क्षितिज खुले। भारत के सन्दर्भ में उनका यह काम किसी ह्वेनसांग से कम नहीं आँका जा सकता। बाह्य यात्राओं की तरह इन निबंधों में उनकी एक वैचारिक यात्रा की ओर भी संकेत किया गया है, जो पारिवारिक स्तर पर स्वीकृत वैष्णव मत से शुरू हो, आर्य समाज एवं बौद्ध मतवाद से गुजरती हुई मार्क्सवाद पर जाकर खत्म होती है।

अनात्मवाद, बुद्ध का जनतंत्र में विश्वास तथा व्यक्तिगत संपत्ति का विरोध जैसी कुछेक ऐसी समान बातें हैं, जिनके कारण वे बौद्ध दर्शन एवं मार्क्सवाद दोनों को साथ लेकर चले थे। राष्ट्र के लिए एक राष्ट्र भाषा के वे प्रबल हिमायती थे। बिना भाषा के राष्ट्र गूँगा है, ऐसा उनका मानना था। वे राष्ट्रभाषा तथा जनपदीय भाषाओं के विकास व उन्नति में किसी प्रकार का विरोध नहीं देखते थे। समय का प्रताप कहें या 'मार्क्सवादी के रूप में उनके मरने की इच्छा' कहें, उन्होंने इस आयातित विचार को सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान 'परमब्रह्म' मान लिया और इस झोंक में वे भारतीय दर्शन, धर्म, संस्कृति, इतिहास आदि के बारे में कुछ ऐसी बातें कह बैठे या निष्कर्ष निकाल बैठे, जो उनकी आलोचना का कारण बने। उनकी भारत की जातीय-संस्कृति संबंधी मान्यता, उर्दू को हिन्दी (खड़ी बोली हिन्दी) से अलग मानने का विचार तथा आर्यों से 'वोल्गा से गंगा' की ओर कराई गई यात्रा के पीछे रहने वाली उनकी धारणा का डॉक्टर रामविलास शर्मा ने तर्कसम्मत खंडन किया है। मत-मतांतर तो चलते रहते हैं, इससे राहुलजी का प्रदेय और महत्व कम नहीं हो जाता। बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद दोनों का मिलाजुला चिंतन उनके पास था, जिसके आधार पर उन्होंने नए भारत के निर्माण का 'मधुर स्वप्न' संजोया था, जिसकी झलक हमें उनकी पुस्तक

'बाईसवीं सदी' में भी मिल जाती है। श्री राहुल ने अपने कर्तृत्व से हमें अपनी विरासत का दर्शन कराया तथा उसके प्रति हम सबमें गौरव का भाव जगाया। उनके शब्दों में– ''समदर्शिता घुमक्कड़ का एकमात्र दृष्टिकोण है और आत्मीयता उसके हरेक बर्ताव का सार।'' यही कारण था कि सारे संसार को अपना घर समझने वाले राहुल सन् 1910 में घर छोड़ने के पश्चात पुनः सन् 1943 में ही अपने ननिहाल पन्दहा पहुँचे। वस्तुतः बचपन में अपने घुमक्कड़ी स्वभाव के कारण पिताजी से मिली डाँट के पश्चात् उन्होंने प्रण लिया था कि वे अपनी उम्र के पचासवें वर्ष में ही घर में कदम रखेंगे। चूँकि उनका पालन–पोषण और शिक्षा–दीक्षा ननिहाल में ही हुआ था सो ननिहाल के प्रति ज्यादा स्नेह स्वाभाविक था। बहरहाल जब वे पन्दहा पहुँचे तो कोई उन्हें पहचान न सका पर अन्ततः लोहार नामक एक वृद्ध व्यक्ति ने उन्हें पहचाना और स्नेहासक्ति रूधे कण्ठ से 'कुलवन्ती के पूत केदार' कहकर राहुल को अपनी बाँहों में भर लिया। अपनी जन्मभूमि पर एक बुजुर्ग की परिचित आवाज ने राहुल को भावविभोर कर दिया। उन्होंने अपनी डायरी में इसका उल्लेख भी किया है– ''लाहौर नाना ने जब यह कहा कि 'अरे ई जब भागत जाय त भगइया गिरत जाय' तब मेरे सामने अपना बचपन नाचने लगा। उन दिनों गाँव के बच्चे छोटी पतली धोती भगई पहना करते थे। गाँववासी बड़े बुजुर्गों का यह भाव देखकर मुझे महसूस होने लगा कि तुलसी बाबा ने यह झूठ कहा है कि– 'तुलसी तहाँ न जाइये, जहाँ जन्म को ठाँव, भाव भगति को मरम न जाने धरे पाछिलो नाँव।।''

घुमक्कड़ी स्वभाव वाले राहुल सांकृत्यायन सार्वदेशिक दृष्टि की ऐसी प्रतिभा थे, जिनकी साहित्य, इतिहास, दर्शन संस्कृति सभी पर समान पकड़ थी। विलक्षण व्यक्तित्त्व के अद्‌भुत मनीषी, चिन्तक, दार्शनिक, साहित्यकार, लेखक, कर्मयोगी और सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत रूप में राहुल ने जिन्दगी के सभी पक्षों को जिया। यही कारण है कि उनकी रचनाधर्मिता शुद्ध कलावादी साहित्य नहीं है, वरन् वह समाज, सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, विज्ञान, धर्म, दर्शन इत्यादि से अनुप्राणित है जो रूढ़ धारणाओं पर कुठाराघात करती है तथा जीवन–सापेक्ष बनकर समाज की प्रगतिशील शक्तियों को संगठित कर संघर्ष एवं गतिशीलता की राह दिखाती है। ऐसे मनीषी को अपने जीवन के अंतिम दिनों में 'स्मृति लोप' जैसी अवस्था से गुजरना पड़ा एवं इलाज हेतु उन्हें मास्को भी ले जाया गया। पर घुमक्कड़ी को कौन बाँध पाया है, सो अप्रैल 1963 में वे पुनः मास्को से दिल्ली आ गए और 14 अप्रैल 1963 को सत्तर वर्ष की आयु में दार्जिलिंग में सन्यास

से साम्यवाद तक का उनका सफर पूरा हो गया पर उनका जीवन दर्शन और घुमक्कड़ी स्वभाव आज भी हमारे बीच जीवित है। राहुल जी घुमक्कड़ी के बारे में कहते हैं।"मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। दुनिया दुख में हो चाहे सुख में, सभी समय यदि सहारा पाती है तो घुमक्कड़ों की ही ओर से। प्राकृतिक आदिम मनुष्य परम घुमक्कड़ था। आधुनिक काल में घुमक्कड़ों के काम की बात कहने की आवश्यकता है, क्योंकि लोगों ने घुमक्कड़ों की कृतियों को चुरा के उन्हें गला फाड़-फाड़कर अपने नाम से प्रकाशित किया। जिससे दुनिया जानने लगी कि वस्तुतः तेली के कोल्हू के बैल ही दुनिया में सब कुछ करते हैं। आधुनिक विज्ञान में चार्ल्स डारविन का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने प्राणियों की उत्पत्ति और मानव-वंश के विकास पर ही अद्वितीय खोज नहीं की, बल्कि कहना चाहिए कि सभी विज्ञानों को डारविन के प्रकाश में दिशा बदलनी पड़ी। लेकिन, क्या डारविन अपने महान आविष्कारों को कर सकता था, यदि उसने घुमक्कड़ी का व्रत न लिया होता। आदमी की घुमक्कड़ी ने बहुत बार खून की नदियाँ बहायी है, इसमें संदेह नहीं और घुमक्कड़ों से हम हरगिज नहीं चाहेंगे कि वे खून के रास्ते को पकड़ें। किन्तु घुमक्कड़ों के काफले न आते जाते, तो सुस्त मानव जातियाँ सो जाती और पशु से ऊपर नहीं उठ पाती। अमेरिका अधिकतर निर्जन सा पड़ा था। एशिया के कूपमंडूक को घुमक्कड़ धर्म की महिमा भूल गयी, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर अपनी झंडी नहीं गाड़ी। दो शताब्दियों पहले तक ऑस्ट्रेलिया खाली पड़ा था। चीन, भारत को सभ्यता का बड़ा गर्व है, लेकिन इनको इतनी अक्ल नहीं आयी कि जाकर वहाँ अपना झंडा गाड़ आते।"

व्यक्तित्त्व के आयाम राहुल सांकृत्यायन उन विशिष्ट साहित्य सर्जकों में हैं, जिन्होंने जीवन और साहित्य दोनों को एक तरह से जिया। उनके जीवन के जितने मोड़ आये, वे उनकी तर्क बुद्धि के कारण आये। बचपन की परिस्थिति व अन्य सीमाओं को छोड़कर उन्होंने अपने जीवन में जितनी राहों का अनुकरण किया वे सब उनके अंतर्मन की छटपटाहट के द्वारा तलाशी गई थी। जिस राह को राहुल जी ने अपनाया उसे निर्भय होकर अपनाया। वहाँ न द्विविधा थी न ही अनिश्चय का कुहासा। ज्ञान और मन की भीतरी पर्तों के स्पंदन से प्रेरित होकर उन्होंने जीवन को एक विशाल परिधि दी। उनके व्यक्तित्त्व के अनेक आयाम हैं। उनकी रचनात्मक प्रतिभा का विस्तार भी राहुलजी के गतिशील जीवन का

ही प्रमाण है। उनके नाम के साथ जुड़े हुए अनेक विशेषण हैं। शायद ही उनका नाम कभी बिना विशेषण के लिया गया हो। उनके नाम के साथ जुड़े हुए कुछ शब्द हैं महापंडित, शब्द-शास्त्री, त्रिपिटकाचार्य, अन्वेषक, यायावर, कथाकार, निबंध-लेखक, आलोचक, कोशकार, अथक यात्री..... और भी जाने क्या-क्या। जो यात्रा उन्होंने अपने जीवन में की, वही यात्रा उनकी रचनाधर्मिता की भी यात्रा थी। राहुलजी के कृतियों की सूची बहुत लंबी है। उनके साहित्य को कई वर्गों में बाँटा जा सकता है। कथा साहित्य, जीवनी, पर्यटन, इतिहास दर्शन, भाषा-ज्ञान, भाषाविज्ञान, व्याकरण, कोश-निर्माण, लोकसाहित्य, पुरातत्त्व आदि। बहिर्जगत् की यात्राएँ और अंतर्मन के आंदोलनों का समन्वित रूप है, राहुलजी का रचना-संसार। घुमक्कडी उनके बाल-जीवन से ही प्रारंभ हो गई और जिन काव्य-पंक्तियों से उन्होंने प्रेरणा ली, वे है "सैर कर दुनिया की गाफिल, जिंदगानी फिर कहाँ, जंदगानी गर रही तो, नौजवानी फिर कहाँ?" राहुलजी जीवन-पर्यन्त दुनियाँ की सैर करते रहे। इस सैर में सुविधा-असुविधा का कोई प्रश्न ही नहीं था। जहाँ जो साधन उपलब्ध हुए उन्हें स्वीकार किया। वे अपने अनुभव और अध्ययन का दायरा बढ़ाते रहे। ज्ञान के अगाध भण्डार थे राहुलजी। राहुलजी का कहना था कि 'उन्होंने ज्ञान को सफर में नाव की तरह लिया है। बोझ की तरह नहीं।' उन्हें विश्व पर्यटक का विशेषण भी दिया गया। उनकी घुमक्कडी प्रवृत्ति ने कहा "घुमक्कड़ों संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।" अनेक ग्रंथों की रचना में उनके यात्रा-अनुभव प्रेरणा के बिंदु रहे हैं। न केवल देश में वरन् विदेशों में भी उन्होंने यात्राएं की, दुर्गम पथ पार किए। इस वर्ग की कृतियों में कुछेक के नाम हैं- लद्दाख यात्रा, लंका यात्रा, तिब्बत में सवा वर्ष, एशिया के दुर्गम भूखण्डों में, मेरी यूरोप-यात्रा, दार्जिलिंग परिचय, नेपाल, कुमाऊँ जौनसार, देहरादून आदि। जहाँ भी वे गये वहाँ की भाषा और वहाँ की संस्कृति और साहित्य का गहराई से अध्ययन किया। अध्ययन से घुलमिल कर वहाँ की संस्कृति और साहित्य का गहराई से अध्ययन किया। अध्ययन की विस्तृति, अनेक भाषाओं का ज्ञान, घूमने की अद्‌भुत ललक, पुराने साहित्य की खोज, शोध-परक पैनी दृष्टि, समाजशास्त्र की अपनी अवधारणाएँ, प्राकृत-इतिहास की परख आदि वे बिंदु हैं जो राहुलजी की सोच में यायावरी में, विचारणा में और लेखन में गतिशीलता देते रहे। उनकी यात्राएँ केवल भूगोल की यात्रा नहीं है। यात्रा मन की है, अवचेतन की भी है चेतना के स्थानांतरण की है। व्यक्तिगत जीवन में भी कितने नाम रूप बदले इस `रचनाधर्मी ने। बचपन में नाम मिला

केदारनाथ पाण्डे, फिर वही बने दामोदर स्वामी, कहीं राहुल सांकृत्यायन, कहीं त्रिपिटकाचार्य..... आदि नामों के बीच से गुजरना उनके चिंतक का प्रमाण था। राहुल बाह्य यात्रा और अंतर्यात्रा के विरले प्रतीक हैं। राहुल सांकृत्यायन का चित्र आरेखन। ज्ञान की खोज में घूमते रहना राहुल जी की जीवनचर्या थी। उनकी दृष्टि सदैव विकास को खोजती थी। भाषा और साहित्य के संबंध में राहुलजी कहते हैं– "भाषा और साहित्य, धारा के रूप में चलता है फर्क इतना ही है कि नदी को हम देश की पृष्ठभूमि में देखते हैं जबकि भाषा देश और भूमि दोनों की पृष्ठभूमि को लिए आगे बढती है।..... कालक्रम के अनुसार देखने पर ही हमें उसका विकास अधिक सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद से लेकर 19वीं सदी के अंत तक की गद्य धारा और काव्य धारा के संग्रहों की आवश्यकता है।" राहुलजी का पूरा जीवन साहित्य को समर्पित था। साहित्य-रचना के मार्ग को उन्होंने बहुत पहले से चुन लिया था। सत्यव्रत सिन्हा के शब्दों में – "वास्तविक बात तो यह है कि राहुलजी ने किशोरावस्था पार करने के बाद ही लिखना शुरू कर दिया था। जिस प्रकार उनके पाँव नहीं रुके उसी प्रकार उनके हाथ की लेखनी भी नहीं रुकी। उनकी लेखनी की अजस्रधारा से विभिन्न विषयों के प्राय: एक सौ पचास से अधिक ग्रंथ प्रणीत हुए।" राहुलजी के व्यक्तित्त्व का एक महत्वपूर्ण पक्ष है-स्वतंत्रता आंदोलन में उनकी भागीदारी। भारत को आजादी मिले यह उनका सपना था और इस सपने को साकार करने के लिए वे असहयोग आंदोलन में निर्भय कूद पड़े। शहीदों का बलिदान उन्हें भीतर तक झकझोरता था। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था– "चौरी-चौरा कांड में शहीद होने वालों का खून देश-माता का चंदन होगा।" राहुलजी के व्यक्तित्त्व में परहेज जैसी कोई संकीर्णता नहीं थी। विगत को जानना ओर उसमें पैठना, वर्तमान की चुनौती को समझना और समस्याओं से संघर्ष करना, भविष्य का स्वप्न सँवारना-यह राहुलजी की जीवन पद्धति थी। अतीत का अर्थ उनके लिए महज इतिहास को जानना नहीं था, वरन् प्रकृत इतिहास को भी समझना और जानना था। इतिहास का उन्होंने नये अर्थ में उपयोग किया। उनके शब्दों में, –"जल्दी ही मुझे मालूम हो गया कि ऐतिहासिक उपन्यासों का लिखना मुझे हाथ में लेना चाहिए..... कारण यह कि अतीत के प्रगतिशील प्रयत्नों को सामने लाकर पाठकों के हृदय में आदर्शों के प्रति प्रेरणा पैदा की जा सकती है।" उनकी अनेक कृतियाँ जैसे, सतमी के बच्चे, जोंक, वोल्गा से गंगा, जययौधेय, सिंह सेनापति आदि इस बात के परिचायक हैं कि राहुलजी इतिहास, पुरातत्त्व, परंपरा, व्यतीत

और अतीत को अपनी निजी विवेचना दे रहे थे। राहुलजी की इतिहास-दृष्टि विलक्षण थी। वे उसमें वर्तमान और भविष्य की कड़ियाँ जोड़ते थे। इतिहास उनके लिए केवल घटित का विवरण नहीं था। उसमें से वे दार्शनिक चिंतन का आधार ढूँढ़ते थे।

पूरे विश्व साहित्य के प्रति राहुलजी के मन में अपार श्रद्धा थी। वह साहित्य चाहे इतिहास से संबंधित हो, या संस्कृति से, अध्यात्म से संबंधित हो या यथार्थ से-सबको वे शोधार्थी की तरह परखते थे। उनकी प्रगतिशीलता में अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य को देखने का आग्रह था ओढ़ी हुई विदेशी सभ्यता उनकी दृष्टि में हेय थी। वे अपनी भाषा, अपने साहित्य के पुजारी थे। वह साहित्य चाहे संस्कृत का हो, चाहे हिन्दी का, चाहे उर्दू का, चाहे भोजपुरी का। राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ में वे कहते थे कि "यदि कोई 'गंगा मइया' की जय बोलने के स्थान पर वोल्गा की जय बोलने के लिए कहे, तो मैं इसे पागल का प्रलाप ही कहूँगा।" बोलियों और जनपदीय भाषा का सम्मान करना राहुलजी की स्वभावगत विशेषता थी। भोजपुरी उन्हें प्रिय थी। क्योंकि वह उनकी माटी की भाषा थी। लोक-नाट्य परंपरा को वे संस्कृति का वाहक मानते थे। लोकनाटक और लोकमंच किसी भी जनआंदोलन में अपनी सशक्त भूमिका निभाते हैं, यह दृष्टि राहुलजी की थी। इसीलिए उन्होंने भोजपुरी नाटकों की रचना की। इसमें उन्होंने अपना नाम 'राहुल बाबा' दिया। सामाजिक विषमता के विरोध में इन नाटकों में और गीतों में अनेक स्थलों पर मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं। बेटा और बेटी के भेदभाव पर कही गई ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं- "एके माई बापता से एक ही उदवा में दूनों में जनमवाँ भइल रे पुरखवा, पूत के जनमवाँ में नाच और सोहर होला बैटी जनम धरे सोग रे पुरखवा।" भोजपुरी के इन नाटकों को वे वैचारिक धरातल पर लाए और जन-भाषा में सामाजिक बदलाव के स्वर को मुखरित किया। ज्ञान की इतनी तीव्र पिपासा और जन-चेतना के प्रति निष्ठा ने राहुलजी के व्यक्तित्त्व को इतना प्रभा-मंडल दिया कि उसे मापना किसी आलोचक की सामर्थ्य के परे है। इसके अलावा जो सबसे बड़ी विशेषता थी-की वह यह थी कि यश और प्रशंसा के ऊँचे शिखर पर पहुँचकर भी वे सहृदय मानव थे राहुलजी भाषात्मक एकता के पोषक थे। वह सांप्रदायिक सद्भाव के समर्थक थे। अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। वे हर भाषा और उसके साहित्य को महत्व ही नहीं देते थे, वरन् उसे अपनाने की बात कहते थे। हिन्दी के अनन्य प्रेमी होने के बावजूद वे उर्दू और फारसी के साहित्यकारों की कद्र

करते थे, वे कहते हैं, "सौदा और आतिश हमारे हैं। गालिब और दाग हमारे हैं। निश्चय ही यदि हम उन्हें अस्वीकृत कर देते हैं तो संसार में कहीं और उन्हें अपना कहने वाला नहीं मिलेगा।" राहुलजी अद्‌भुत वक्ता थे। उनका भाषण प्रवाहपूर्ण और स्थायी प्रभाव डालने वाला होता था। एक बार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने राहुलजी की भाषण शक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा था, "मैं गोष्ठियों, समारोहों, सम्मेलनों, में वैसे तो बेधड़क बोलता हूँ लेकिन जिस सभा, सम्मेलन या गोष्ठी में महापंडित राहुल सांकृत्यायन होते हैं, वहाँ बोलने में सहमता हूँ। उनके व्यक्तित्त्व एवं अगाध विद्वत्ता के समक्ष अपने को बौना महसूस करता हूँ।" द्विवेदीजी का यह प्रशस्तिभाव इसलिए और भी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि द्विवेदी-जी स्वयं हिन्दी के असाधारण वक्ता और असाधारण विद्वान् थे। राहुलजी की कृतज्ञ भावना उनकी पुस्तक 'जिनका मैं कृतज्ञ' में देखने को मिलती है। इसके प्राक्कथन में उन्होंने लिखा है, 'जिनका मैं कृतज्ञ' लिखकर उस ऋण से उऋण होना चाहता हूँ, जो इन बुजुर्गों और मित्रों का मेरे ऊपर है। उनमें से कितने ही इस संसार में नहीं हैं। वे इन पंक्तियों को नहीं देख सकते। इनमें सिर्फ वही नहीं हैं जिनसे मैंने मार्गदर्शन पाया था। बल्कि ऐसे भी पुरुष हैं जिनका संफ मानसिक संबल के रूप में जीवन यात्रा के रूप में हुआ। कितनो से बिना उनकी जानकारी, उनके व्यवहार और बर्ताव से मैंने बहुत कुछ सीखा। मनुष्य को कृतज्ञ होना चाहिए।" राहुलजी का व्यक्तित्त्व इतना बहुआयामी था कि उसको शब्दों की परिधि में बाँधना दु:साध्य है। उनका अध्ययन और लेखन इतना विशाल है कि कई-कई शोधार्थी भी मिलकर कार्य करें तो भी श्रम और समय की कोई एक सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। प्रवाहपूर्ण लेखनी और पैनी दृष्टि से वे ऐसे रचनाधर्मी थे, जिसने अपने जीवनकाल में ही यश के ऊँचे शिखर छू लिए थे। राहुल जी शब्द-सामर्थ्य और सार्थक-अभिव्यक्ति के मूर्तिमान रूप थे।

हिन्दी को राहुलजी ने बहुत प्यार दिया। उन्हीं के अपने शब्द है, "मैंने नाम बदला, वेशभूषा बदली, खान-पान बदला, संप्रदाय बदला लेकिन हिन्दी के संबंध में मैंने विचारों में कोई परिवर्तन नहीं किया।" राहुलजी के विचार आज बेहद प्रासंगिक हैं। उनकी उक्तियाँ सूत्र-रूप में हमारा मार्गदर्शन करती हैं। हिन्दी को खड़ी बोली का नाम भी राहुल जी ने ही दिया था।हिन्दी के प्रसंग में वह कहते हैं। "हिंदी, अंग्रेजी के बाद दुनिया के अधिक संख्यावाले लोगों की भाषा है। इसका साहित्य 750 ई. से शुरू होता है और सरहपा, कन्हापा, गोरखनाथ, चन्द्र, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, बिहारी, हरिश्चंद्र, जैसे कवि और लल्लूलाल,

प्रेमचंद जैसे प्रलेखक दिए हैं इसका भविष्य अत्यंत उज्जवल, भूत से भी अधिक प्रशस्त है। हिंदी भाषी लोग भूत से ही नहीं आज भी सब से अधिक प्रवास निरत जाति हैं।"

पुरस्कार व सम्मान चित्र:Rahulji stamp-JPGराहुल सांकृत्यायन पर जारी डाक टिकट।

राहुल सांकृत्यायन की स्मृति में भारतीय डाकतार विभाग की ओर से 1993 में उनकी जन्मशती के अवसर पर 100 पैसे मूल्य का एक डाक टिकट जारी किया गया। पटना में राहुल सांकृत्यायन साहित्य संस्थान की स्थापना की गई है। यहाँ उनसे संबंधित वस्तुओं का एक संग्रहालय भी है। उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पंदहा गाँव में राहुल सांकृत्यायन साहित्य संग्रहालय की स्थापना की गई है, जहाँ उनका जन्म हुआ था। वहाँ उनकी एक वक्षप्रतिमा भी है। साहित्यकार प्रभाकर माचवे ने राहुलजी की जीवनी लिखी है और उनके व्यक्तित्त्व के उस हिस्से को उजागर किया है, जिससे लोग अनभिज्ञ थे। यह पुस्तक 1978 में पहली बार प्रकाशित हुई थी। इसका अनुवाद अंग्रेजी, रूसी आदि अनेक विदेशी भाषाओं में भी प्रकाशित हुआ। राहुलजी की कई पुस्तकों के अंग्रेजी रूपांतर तो हुए ही हैं, चीनी, रूसी आदि अनेक विदेशी भाषाओं में भी उनकी कृतियां लोकप्रिय हुई हैं। उन्हें 1958 में साहित्य अकादमी पुरस्कार, तथा 1963 में भारत सरकार के पद्मभूषण अलंकरण से विभूषित किया गया।

राहुल का संघर्ष (पुस्तक)महापंडित राहुल सांकृत्यायन को लेकर समय-समय पर काफी लिखा जाता रहा है। फलस्वरूप पढ़ने की दृष्टि से उन पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है, किंतु श्रीनिवास शर्मा की पुस्तक 'राहुल का संघर्ष' एक पृथक कोण पर केंद्रित है। यह कोण है राहुलजी के जीवन एवं कार्यों में अविच्छिन्न संघर्ष की धारा का प्रवाहमान रहना।

पुस्तक में लेखक के अठारह (उपसंहार सहित) निबंध संकलित हैं। इनमें प्रथम चार का संबंध राहुलजी की कुल परंपरा, उनके माता-पिता, उनके प्रथम विवाह एवं उनके किशोर मन में मौजूद अस्वीकार एवं विद्रोह की मुद्रा से है। आगे आने वाले निबंधों में उनके घुमक्कड़ स्वभाव, भाषा, साहित्य तथा ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में उनकी खोजों एवं उपलब्धियों, बौद्ध धर्म तथा दर्शन के प्रति उनके झुकाव तथा दीक्षा, मार्क्सवाद, किसान आंदोलन आदि को लेकर व्यापक चर्चा हुई है।

निबंध क्रमांक चौदह-पंद्रह में राष्ट्रभाषा एवं जनपदीय भाषाओं के बारे में उनके विचार हैं। अंत के निबंधों में उनकी इतिहास दृष्टि तथा रचनाओं की संक्षिप्त रूपरेखा को विषयवस्तु बनाया गया है। पुस्तक रोचक बन पड़ी है। निबंधों में राहुलजी से संबंधित अनेक अनछुए पहलू भी सामने आए हैं।

साहित्यिक कृतियां

1. कहानियाँ
2. सतमी के बच्चे
3. वोल्गा से गंगा
4. बहुरंगी मधुपुरी
5. कनैला की कथा
6. उपन्यास
7. बाईसवीं सदी
8. जीने के लिए
9. सिंह सेनापति
10. जय यौधेय
11. भागो नहीं, दुनिया को बदलो
12. मधुर स्वप्न
13. राजस्थान निवास
14. विस्मृत यात्री
15. दिवोदास
16. आत्मकथा
17. मेरी जीवन यात्रा

जीवनियाँ

संस्कृत से ग्रंथ को शुरू करने के लिए पाठकों को रोष नहीं होना चाहिए। आखिर हम शास्त्र लिखने जा रहे हैं, फिर शास्त्र की परिपाटी को तो मानना ही पड़ेगा। शास्त्रों में जिज्ञासा ऐसी चीज के लिए होनी बतलाई गई है, जोकि श्रेष्ठ तथा व्यक्ति और समाज सबके लिए परम हितकारी हो। व्यास ने अपने शास्त्र में ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे जिज्ञासा का विषय बनाया। व्यास-शिष्य जैमिनि ने धर्म को श्रेष्ठ माना। पुराने ऋषियों से मतभेद रखना हमारे लिए पाप की वस्तु

नहीं है, आखिर छः शास्त्रों के रचयिता छः आस्तिक ऋषियों में भी आधों ने ब्रह्म को धत्त बता दिया है। मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। कहा जाता है, ब्रह्म ने सृष्टि को पैदा, धारण और नाश करने का जिम्मा अपने ऊपर लिया है। पैदा करना और नाश करना दूर की बातें हैं, उनकी यथार्थता सिद्ध करने के लिए न प्रत्यक्ष प्रमाण सहायक हो सकता है, न अनुमान ही। हाँ, दुनिया के धारण की बात तो निश्चय ही न ब्रह्म के ऊपर है, न विष्णु के और न शंकर ही के ऊपर। दुनिया – दुःख में हो चाहे सुख में – सभी समय यदि सहारा पाती है, तो घुमक्कड़ों की ही ओर से। प्राकृतिक आदिम मनुष्य परम घुमक्कड़ था। खेती, बागबानी तथा घर-द्वार से मुक्त वह आकाश के पक्षियों की भाँति पृथ्वी पर सदा विचरण करता था, जाड़े में यदि इस जगह था तो गर्मियों में वहाँ से दो सौ कोस दूर। आधुनिक काल में घुमक्कड़ों के काम की बात कहने की आवश्यकता है, क्योंकि लोगों ने घुमक्कड़ों की कृतियों को चुराके उन्हें गला फाड़-फाड़कर अपने नाम से प्रकाशित किया, जिससे दुनिया जानने लगी कि वस्तुतः तेली के कोल्हू के बैल ही दुनिया में सब कुछ करते हैं। आधुनिक विज्ञान में चार्ल्स डारविन का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने प्राणियों की उत्पत्ति और मानव-वंश के विकास पर ही अद्वितीय खोज नहीं की, बल्कि सारे ही विज्ञानों को उससे सहायता मिली। कहना चाहिए, कि सभी विज्ञानों को डारविन के प्रकाश में दिशा बदलनी पड़ी। लेकिन क्या डारविन अपने महान आविष्कारों को कर सकता था, यदि उसने घुमक्कड़ी का व्रत नहीं लिया होता?

मैं मानता हूँ, पुस्तकें भी कुछ-कुछ घुमक्कड़ी का रस प्रदान करती हैं, लेकिन जिस तरह फोटो देखकर आप हिमालय के देवदार के गहन वनों और 'वेत हिम-मुकुटित शिखरों के सौन्दर्य, उनके रूप, उनके गंध का अनुभव नहीं कर सकते, उसी तरह यात्रा-कथाओं से आपको उस बूँद से भेंट नहीं हो सकती, जो कि एक घुमक्कड़ को प्राप्त होती है। अधिक-से-अधिक यात्रा-पाठकों के लिए यही कहा जा सकता है, कि दूसरे अन्धों की अपेक्षा उन्हें थोड़ा आलोक मिल जाता है और साथ ही ऐसी प्रेरणा भी मिल सकती है, जो स्थायी नहीं तो कुछ दिनों के लिए उन्हें घुमक्कड़ बना सकती हैं। घुमक्कड़ क्यों दुनिया की सर्वश्रेष्ठ विभूति है? इसीलिए कि उसीने आज की दुनिया को बनाया है। यदि आदिम-पुरूष एक जगह नदी या तालाब के किनारे गर्म मुल्क में पड़े रहते, तो वह दुनिया को आगे नहीं ले जा सकते थे। आदमी की घुमक्कड़ी ने बहुत बार

खून की नदियाँ बहाई हैं, इसमें संदेह नहीं, और घुमक्कड़ों से हम हर्गिज नहीं चाहेंगे कि वह खून के रास्ते को पकड़ें, किंतु अगर घुमक्कड़ों के काफिले न आते-जाते, तो सुस्त मानव-जातियाँ सो जातीं और पशु से ऊपर नहीं उठ पातीं। आदिम घुमक्कड़ों में से आर्यों, शकों, हूणों ने क्या-क्या किया, अपने खूनी पथों द्वारा मानवता के पथ को किस तरह प्रशस्त किया, इसे इतिहास में हम उतना स्पष्ट वर्णित नहीं पाते, किंतु मंगोल-घुमक्कड़ों की करामातों को तो हम अच्छी तरह जानते हैं। बारूद, तोप, कागज, छापाखाना, दिग्दर्शक, चश्मा यही चीजें थीं, जिन्होंने पश्चिम में विज्ञान-युग का आरंभ कराया और इन चीजों को वहाँ ले जाने वाले मंगोल घुमक्कड़ थे। कोलंबस और वास्को द-गामा दो घुमक्कड़ ही थे, जिन्होंने पश्चिमी देशों के आगे बढ़ने का रास्ता खोला। अमेरिका अधिकतर निर्जन-सा पड़ा था। एशिया के कूप-मंडूकों को घुमक्कड़-धर्म की महिमा भूल गई, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर अपनी झंडी नहीं गाड़ी। दो शताब्दियों पहले तक आस्ट्रेलिया खाली पड़ा था। चीन और भारत को सभ्यता का बड़ा गर्व है, लेकिन इनको इतनी अकल नहीं आई कि जाकर वहाँ अपना झंडा गाड़ आते।

व्यक्ति के लिए घुमक्कड़ी से बढ़कर कोई नगद धर्म नहीं है। जाति का भविष्य घुमक्कड़ों पर निर्भर करता है, इसलिए मैं कहूँगा कि हरेक तरुण और तरुणी को घुमक्कड़-व्रत ग्रहण करना चाहिए, इसके विरुद्ध दिये जाने वाले सारे प्रमाणों को झूठ और व्यर्थ का सामना करना चाहिए, यदि माता-पिता विरोध करते हैं, तो समझाना चाहिए कि वह भी प्रह्लाद के माता-पिता के नवीन संस्करण हैं। यदि हित-बांधव बाधा उपस्थित करते हैं, तो समझाना चाहिए कि वे दिवांध हैं। धर्म-धर्माचार्य कुछ उलटा-सीधा तर्क देते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि इन्हीं ढोंगों और ढोंगियों ने संसार को कभी सरल और सच्चे पथ पर चलने नहीं दिया। यदि राज्य और राजसी-नेता अपनी कानूनी रुकावटें डालते हैं, तो हजारों बार की तजर्बा की हुई बात है, कि महानदी के वेग की तरह घुमक्कड़ की गति को रोकनेवाला दुनिया में कोई पैदा नहीं हुआ। बड़े-बड़े कठोर पहरेवाली राज्य-सीमाओं को घुमक्कड़ों ने आँख में धूल झोंककर पार कर लिया। मैंने स्वयं ऐसा एक से अधिक बार किया है। (पहली तिब्बत यात्रा में अंग्रेजों, नेपाल-राज्य और तिब्बत के सीमा-रक्षकों की आँख में धूल झोंककर जाना पड़ा था।)

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं, कि यदि कोई तरुण-तरुणी घुमक्कड़ धर्म की दीक्षा लेता है - यह मैं अवश्य कहूँगा, कि यह दीक्षा वही ले सकता है, जिसमें

बहुत भारी मात्रा में हर तरह का साहस है – तो उसे किसी की बात नहीं सुननी चाहिए, न माता के आँसू बहने की परवाह करनी चाहिए, न पिता के भय और उदास होने की, न भूल से विवाह लाई अपनी पत्नी के रोने-धोने की फिक्र करनी चाहिए और न किसी तरुणी को अभागे पति के कलपने की। बस शंकराचार्य के शब्दों में यही समझना चाहिए – ''निस्त्रैगुण्ये पथि विचरत: को विधि को निषेधा' और मेरे गुरु कपोतराज के वचन को अपना पथप्रदर्शक बनाना चाहिए –

''सैर कर दुनिया की गाफिल, जिंदगानी फिर कहाँ?
जिंदगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ?''

दुनिया में मनुष्य-जन्म एक ही बार होता है और जवानी भी केवल एक ही बार आती है। साहसी और मनस्वी तरुण-तरुणियों को इस अवसर से हाथ नहीं धोना चाहिए। कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ो! संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।

जंजाल तोड़ो

दुनिया-भर के साधुओं-संन्यासियों ने "गृहकारज नाना जंजाला" कह उसे तोड़कर बाहर आने की शिक्षा दी है। यदि घुमक्कड़ के लिए भी उसका तोड़ना आवश्यक है, तो यह न समझना चाहिए कि घुमक्कड़ का ध्येय भी आत्म-सम्मोह या परवंचना है। घुमक्कड़-शास्त्र में जो भी बातें कही जा रही हैं, वह प्रथम या अधिक-से-अधिक द्वितीय श्रेणी के घुमक्कड़ों के लिए हैं। इसका मतलब यह नहीं, कि यदि प्रथम और द्वितीय श्रेणी का घुमक्कड़ नहीं हुआ जा सकता तो उस मार्ग पर पैर रखना ही नहीं चाहिए। वैसे तो गीता को बहुत नई बोतल में पुरानी शराब और दर्शन तथा उच्च धर्माचार के नाम पर लोगों को पथभ्रष्ट करने में ही सफलता मिली है, किंतु उसमें कोई-कोई बात सच्ची भी निकल आती है। "न चौकमपि सत्त्यं स्यात् पुरुषे बहुभाषिणि" (बहुत बोलने वाले आदमी की एकाध बात सच्ची भी हो जाती है) यह बात गीता पर लागू समझनी चाहिए, और वह सच्ची बात है –

''मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।''

इसलिए प्रथम श्रेणी के एक घुमक्कड़ को पैदा करने के लिए हजार द्वितीय श्रेणी के घुमक्कड़ों की आवश्यकता होगी। द्वितीय श्रेणी के एक घुमक्कड़ के लिए हजार तृतीय श्रेणी के। इस प्रकार घुमक्कड़ी के मार्ग पर जब लाखों की संख्या में लोग चलेंगे तो कोई-कोई उनमें आदर्श घुमक्कड़ बन सकेंगे।

हाँ, तो घुमक्कड़ के लिए जंजाल तोड़कर बाहर आना पहली आवश्यकता है। कौन सा तरुण है, जिसे आँख खुलने के समय से दुनिया घूमने की इच्छा न हुई हो। मैं समझता हूँ, जिसकी नसों में गरम खून है, उनमें कम ही ऐसे होंगे, जिन्होंने किसी समय घर की चाहार-दीवारी तोड़कर बाहर निकलने की इच्छा नहीं की हो। उनके रास्ते में बाधाएँ जरूर हैं। बाहरी दुनिया से अधिक बाधाएँ आदमी के दिल में होता है। तरुण अपने गाँव या मुहल्ले की याद करके रोने लगते हैं, वह अपने परिचित घरों और दीवारों, गलियों और सड़कों, नदियों और तालाबों को नजर से दूर करने में बड़ी उदासी अनुभव करने लगते हैं। घुमक्कड़ होने का यह अर्थ नहीं कि अपनी जन्म भूमि उसका प्रेम न हो। "जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि" बिल्कुल ठीक बात है। बल्कि जन्मभूमि का प्रेम ओर सम्मान पूरी तरह से तभी किया जा सकता है, जब आदमी उससे दूर हो। तभी उसका सुंदर चित्र मानसपटल पर आता है, और हृदय तरह-तरह के मधुर भावों ओत-प्रोत हो जाता है। विघ्नबाधा का भय न रहने पर घुमक्कड़ पाँच-दस साल बाद उसे देख आए, अपने पुराने मित्रों से मिल आए, यह कोई बुरी बात नहीं है, लेकिन प्रेम का अर्थ उसे गाँठ बाँध करके रखना नहीं है। आखिर घुमक्कड़ी जीवन में आदमी जितना दूर-दूर जाता है, उसके हित-मित्रों की संख्या भी उसी तरह बढ़ती है। सभी जगह स्नेह और प्रेम के धागे उसे बाँधने की तैयारी करते हैं। यदि ऐसे फंदे में वह फँसना चाहे, तो भी कैसे सबकी इच्छा को पूरा कर सकता है? जिस भूमि, गाँव या शहर ने हमें जन्म दिया है, उसे शत-शत प्रणाम है, उसकी मधुर स्मृति हमारे लिए प्रियतम निधि है, इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन, यदि वह भूमि पैरों को पकड़कर हमे जंगम से स्थावर बनाना चाहे तो यह बुरी बात है। मनुष्य से पशु ही नहीं बल्कि एकाएक वनस्पति जाति में पतन - यह मनुष्य के लिए स्पृहणीय नहीं हो सकता। हरेक मनुष्य का जन्म-स्थान के प्रति एक कर्त्तव्य है, जो मन में उसकी मधुर स्मृति और कार्य से कृतज्ञता प्रकट कर देने मात्र से पूरा हो जाता है।

विद्या और वय

यदि सारा भारत घर-बार छोड़कर घुमक्कड़ हो जाय, तो भी चिंता की बात नहीं है। लेकिन घुमकक्ड़ी एक सम्मानित नाम और पद है। उसमें, विशेषकर प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ों में सभी तरह के ऐरे-गैरे पंच-कल्याणी नहीं शामिल किए जा सकते। हमारे कितने ही पाठक पहले के अध्यायों को पढ़कर बहुत

प्रसन्न हुए होंगे और सोचते होंगे – ''चलो पढ़ने-लिखने से छुट्टी मिली। बस कुछ नहीं करना है, निकल चले, फिर दुनिया में कोई रास्ता निकल ही आयगा।'' मुझे संदेह है कि इतने हल्के दिल से घुमक्कड़ पथ पर जो आरूढ़ होंगे, वह न घर के होंगे न घाट के, न किसी उच्चादर्श के पालने में समर्थ होंगे। किसी योग्य पद के लिए कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। मैं यह बतला चुका हैं, कि घुमक्कड़-पथ पर चलने के लिए बालक भी अधिकारी हो सकता है, नवतरुणों और तरुणियों की तो बात ही क्या? लेकिन हरेक बालक का ऐसा प्रयास सफलता को कोई गारंटी नहीं रखता। घुमक्कड़ को समाज पर भार बनकर नहीं रहना है। उसे आशा होगी कि समाज और विश्व के हरेक देश के लोग उसकी सहायता करेंगे, लेकिन उसका काम आराम से भिखमंगी करना नहीं है। उसे दुनिया से जितना लेना है, उससे सौ गुना अधिक देना है। जो इस दृष्टि से घर छोड़ता है, वही सफल और यशस्वी घुमक्कड़ बन सकता है। हाँ ठीक है, घुमक्कड़ों का बीज आरंभ में भी बोया जा सकता है। इस पुस्तक को पढ़ने-समझने वाले बालक-बालिकाएँ बारह वर्ष से कम के तो शायद ही हो सकते हैं। हमारे बारह-तेरह साल के पाठक इस शास्त्र को खूब ध्यान से पढ़ें, संकल्प पक्का करें, लेकिन उसी अवस्था में यदि घर छोड़ने के लोभ का संवरण कर सकें, तो बहुत अच्छा होगा। वह इससे घाटे में नहीं रहेंगे।

मेरे छोटे पाठक उपरोक्त पंक्तियों को पढ़कर मुझ पर संदेह करने लगेंगे और कहेंगे कि मैं उनके माता-पिता का गुप्तचर बन गया हूँ और उनकी उत्सुकता को दबाकर पीछे खींचना चाहता हूँ। इसके बारे में मैं यही कहूँगा, कि यह मेरे ऊपर अन्याय ही नहीं है, बल्कि उनके लिए भी हितकर नहीं हैं। मैं नौ साल से अधिक का नहीं था जब अपने गाँव से पहले-पहले बनारस पहुँच था। मुझे अँगुली पकड़कर मेरे चचा गंगा ले जाते थे। मैं इसे अपमान समझता था और खुलकर अकेले बनारस के कुछ भागों को देखना और अपने मन की पुस्तकें खरीदना चाहता था। मैंने एक दिन आँख बचाकर अपना मंसूबा पूरा करना चाहा, दो या तीन मील का चक्कर लगाया। नौ वर्ष के बालक का एक बहुत छोटे गाँव से आकर एकदम बनारस की गलियों में घूमना भय की बात थी, इसमें संदेह नहीं, लेकिन मुझे उस समय नहीं मालूम था, कि घुमक्कड़ी का अंतर्हित बीज इस रूप में अपने प्रथम प्राकट्य को दिखला रहा है। अगली उड़ान जो बड़ी उड़ानों में प्रथम थी, चौदह वर्ष में हुई, यद्यपि अनन्य रूप से घुमक्कड़ धर्म की सेवा का सौभाग्य मुझे 16 वर्ष की उम्र से मिला। मैं अपने पाठकों को मना नहीं

करता, यदि वह मेरा अनुकरण करें, किंतु मैं अपने तजर्बे से उन्हें वंचित नहीं करना चाहता। कुछ बातें यदि पहले ही ठीक करली जायँ, तो आदमी के जीवन के बारह वर्ष का काम दो बरस में हो सकता है। मैं यह नहीं कहता कि दो वर्ष के काम के लिए बारह वर्ष घूमना बिलकुल बेकार है, किसी-किसी के लिए उसका भी महत्व हो सकता है, लेकिन सभी बातों पर विचार करने पर ठीक यही मालूम पड़ता है, कि घुमक्कड़ का संकल्प तो किसी आयु में पक्का कर लेना चाहिए, समय-समय पर सामने आते बंधनों को काटते रहना चाहिए, किंतु पूरी तैयारी के बाद ही घुमक्कड़ बनने के लिए निकल पड़ना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि मन को पहले रंग लेना चाहिए, शरीर पर रंग चढ़ाने में यदि थोड़ी देर हो तो उससे घबड़ाना नहीं चाहिए। ठीक है, मैं ऐसी भी सलाह नहीं देता, जैसी कि मुरादाबाद के एक सेठ की योजना में थी। उनकी बड़ी आराम की जिंदगी थी, गर्मियों में खस की टट्टी और पंखे के नीचे दुनिया का ताप क्या मालूम हो सकता था। लेकिन देखा-देखी 'योग' करने की साध लग गई थी। वह चाहते थे कि निकलकर दुनिया में बिचरें। उन्होंने दस दरियाई नारियल के कमंडलु भी मँगवा लिए थे। कहते थे - धीरे-धीरे जब दस आदमी यहाँ आ जायँगे, तब हम बाहर निकलेंगे। न जाने कितने सालों के बाद मैं उन्हें मिला था। मेरे में उतना धैर्य नहीं था कि बाकी आठ आदमियों के आने की प्रतीक्षा करता। घुमक्कड़ ही अधीरता को मैं पसंद करता हूँ। यह अधीरता ऐसी शक्ति है, जो मजबूत-से-मजबूत बंधनों को काटने में सहायक होती है।

पाठक कहेंगे, तब हमें रोकने की क्या आवश्यकता? क्यों नहीं - "यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत्" (जिस दिन ही मन उचटे, उसी दिन निकल पड़ना चाहिए)। इसके उत्तर में मैं कहूँगा - यदि आप तीसरी-चौथी-पाँचवी-छठीं श्रेणी के ही घुमक्कड़ बनना चाहते हैं, तो खुशी से ऐसा कर सकते हैं। लेकिन मैं चाहता हूँ कि आप प्रथम और द्वितीय श्रेणी के घुमक्कड़ बनें इसलिए मन को रँगकर निकलने से पहले थोड़ी तैयारी कर लें। घुमकक्ड़ी जीवन के लिए पहला कदम है, अपने भावी जीवन के संबंध में पक्का संकल्प कर डालना। इसको जितना ही जल्दी कर लें, उतना ही अच्छा। बारह से चौदह साल तक ही उम्र तक में ऐसा संकल्प अवश्य हो जाना चाहिए। बारह से पहले बहुत कम को अपेक्षित ज्ञान और अनुभव होता है, जिसके बल पर कि वह अपने प्रोग्राम की पक्की कर सकें। लेकिन बारह और चौदह का समय ऐसा है जिसमें बुद्धि रखनेवाले बालक एक निश्चय पर पहुँच सकते हैं। प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ के

लिए मेधावी होना आवश्यक है। मैं चाहता हूँ, घुमक्कड़-पथ के अनुयायी प्रथम श्रेणी के मस्तिष्क वाले तरुण और तरुणियाँ बनें। वैसे अगली श्रेणियों के घुमक्कड़ों से भी समाज को फायदा है, यह मैं बतला चुका हूँ। 12-14 की आयु में मानसिक दीक्षा लेकर मामूली सैर-सपाटे के बहाने कुछ इधर-उधर छोटी-मोटी कुदान करते रहना चाहिए।

कौन समय है जबकि तरुण को महाभिनिष्क्रमण करना चाहिए? मैं समझता हूँ इसके लिए कम-से-कम आयु 16-18 की होनी चाहिए और कम-से-कम पढ़ने की योग्यता मैट्रिक या उसके आसपास वाली दूसरी तरह की पढ़ाई। मैट्रिक से मेरा मतलब खास परीक्षा से नहीं है, बल्कि उतना पढ़ने में जितना साधारण साहित्य, इतिहास, भूगोल गणित का ज्ञान होता है, घुमकक्ड़ी के लिए वह अल्पतम आवश्यक ज्ञान है। मैं चाहता हूँ कि एक बार चल देने पर फिर आदमी को बीच में मामूली ज्ञान के अर्जन की फिक्र में रुकना नहीं पड़े।

घुमक्कड़ी का अंकुर किसी देश, जाति या वर्ग में सीमित नहीं रहता। धनाढ्य कुल में भी घुमक्कड़ पैदा हो सकता है, लेकिन तभी जब कि उस देश का जातीय जीवन उन्मुख हो। पतनशील जाति में धनाढ्य होने का मतलब है, उसके व्यक्तियों का सब तरह से पतनोन्मुख होना। तो भी, जैसा कि हमने पहले बतलाया है, घुमक्कड़ी का बीजांकुर कहीं भी उद्भूत हो सकता है। लेकिन चाहे धनी कुल में पैदा हो या निर्धन कुल में, अथवा मेरी तरह न धनी और न निर्धन कुल में, तो भी घुमक्कड़ में और गुणों के अतिरिक्त स्वावलंबन की मात्रा अधिक होनी चाहिए। सोने और चाँदी के कटोरों के साथ पैदा हुआ घुमक्कड़ी की परीक्षा में बिलकुल अनुत्तीर्ण हो जायगा, यदि उसने अपने सोने-चाँदी के भरोसे घुमक्कड़ी करनी चाही। वस्तुतः संपत्ति और धन घुमक्कड़ी के मार्ग में बाधक हो सकते हैं। धन-संपत्ति को समझा जाता है, कि वह आदमी की सब जगह गति करा सकती है। लेकिन यह बिलकुल झूठा ख्याल है। धन-संपत्ति रेल, जहाज और विमान तक पहुँचा सकती है, विलास-होटलों, काफी-भवनों तक की सैर करा सकती है। घुमक्कड़ दृढ़-संकल्पी न हो तो इन स्थानों से उसके मनोबल को क्षति पहुँच सकती है। इसीलिए पाठकों में यदि कोई धनी तरुण घुमक्कड़ी-धर्म को ग्रहण करना चाहता है, तो उसे अपनी उस धन-संपत्ति से संबंध-विच्छेद कर लेना चाहिए, अर्थात् समय-समय पर केवल उतना ही पैसा पाकेट में लेकर घूमना चाहिए, जिसमें भीख माँगने की नौबत नहीं आए और साथ ही भव्य होटलों और पाठशालाओं में रहने को स्थान न मिल सके। इसका अर्थ

यह है कि भिन्न-भिन्न वर्ग में उत्पन्न घुमक्कड़ों को एक साधारण तल पर आना चाहिए।

घुमक्कड़ धर्म किसी जात-पाँत को नहीं मानता, न किसी धर्म या वर्ण के आधार पर अवस्थित वर्ग ही को। यह सबसे आवश्यक है कि एक घुमक्कड़ दूसरे को देखकर बिलकुल आत्मीयता अनुभव करने लगे - वस्तुतः घुमक्कड़ों के विकास के उच्चतल की यह कसौटी है। जितने ही उच्च श्रेणी के घुमक्कड़ होंगे, उतना ही वह आपस में बंधुता अनुभव करेंगे और उनके भीतर मेरा-तेरा का भाव बहुत-कुछ लोप हो जायगा। चीनी घुमक्कड़, फाहियान और स्वेन-चांग की यात्राओं को देखने से मालूम होगा, कि वह नए मिले यायावरों के साथ कितना स्नेह का भाव रखते थे। इतिहास के लिए विस्तृत किंतु कठोर साधनाओं के साथ घुमक्कड़ी किए व्यक्तियों का उन्होंने कितना सम्मान और सद्भाव के साथ स्मरण किया है।

घुमक्कड़ी एक रस है, जो काव्य के रस से किसी तरह भी कम नहीं है। कठिन मार्गों को तय करने के बाद नए स्थानों में पहुँचने पर हृदय में जो भावोद्रेक पैदा होता है, वह एक अनुपम चीज है। उसे कविता के रस से हम तुलना कर सकते हैं, और यदि कोई ब्रह्म पर विश्वास रखता हो, तो वह उसे ब्रह्म-रस समझेगा - 'रसो वैसः रसंहि लब्ध्वा आनंदी भवति।'' इतना जरूर कहना होगा कि उस रस का भागी वह व्यक्ति नहीं हो सकता, जो सोने-चाँदी में लिपटा हुआ यात्रा करना चाहता है। सोने-चाँदी के बल पर बढ़िया-से-बढ़िया होटलों में ठहरने, बढ़िया से-बढ़िया विमानों पर सैर करने वालों को घुमक्कड़ कहना इस महान शब्द के प्रति भारी अन्याय करना है। इसलिए यह समझने में कठिनाई नहीं हो सकती कि सोने के कटोरे को मुँह में लिए पैदा होना घुमक्कड़ के लिए तारीफ की बात नहीं है। यह ऐसी बाधा है, जिसको हटाने में काफी परिश्रम की आवश्यकता होती है।

प्रश्न हो सकता है - क्या सभी वस्तुओं से विरत हो, सभी चीजों को छोड़कर, कुछ भी हाथ में न रख निकल पड़ना ही एकमात्र घुमक्कड़ का रास्ता है? जहाँ घुमक्कड़ के लिए संपत्ति बाधक और हानिकारक है, वहाँ साथ ही घुमक्कड़ के लिए आत्मसम्मान की भी भारी आवश्यकता है। जिसमें आत्मसम्मान का भाव नहीं, वह कभी अच्छे दर्जे का घुमक्कड़ नहीं हो सकता। अच्छी श्रेणी के घुमक्कड़ का कर्त्तव्य है कि अपनी जाति, अपने पंथ, अपने बंधु-बांधवों पर - जिनमें केवल घुमक्कड़ ही शामिल हैं - कोई लांछन नहीं

आने दे। यदि घुमक्कड़ उच्चादर्श और सम्माननीय व्यवहार को कायम रखेगा, तो उससे वर्तमान और भविष्य के, एक देश और सारे देशों के घुमक्कड़ों को लाभ पहुँचेगा। इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए कि हजारों घुमक्कड़ों में कुछ बुरे निकलेंगे और उनकी वजह से घुमक्कड़-पंथ कलंकित होगा। हरेक आदमी के सामने घुमक्कड़ के असली रूप को रखा न भी जा सके तो भी गुणग्राही, संस्कृत, बहुश्रुत, दूरदूर्शी नर-नारियों के हृदय में घुमक्कड़ों के प्रति विशेष आदरभाव पैदा करना हरेक घुमक्कड़ का कर्त्तव्य है। उसे अपना ही रास्ता ठीक नहीं रखना है, बल्कि यदि रास्ते में काँटे पड़े हों, तो उन्हें हटा देना है, जिसमें भविष्य में आने वालों के पैर में वह न चुभें। इन सबका ध्यान वही रख सकता है, जिसमें आत्म-सम्मान की भावना कूट-कूटकर भरी हुई है। घुमक्कड़ चापलूसी से घृणा करता है, लेकिन इसका अर्थ अक्खड़, उजड्ड होना नहीं है, और न सांस्कृतिक सद्व्यवहार से हाथ धो लेना। वस्तुतः घुमक्कड़ को अपने आचरण और स्वभाव को ऐसा बनाना है, जिससे वह दुनिया में किसी को अपने से ऊपर नहीं समझे, लेकिन साथ ही किसी को नीचा भी न समझे। समदर्शिता घुमक्कड़ का एकमात्र दृष्टिकोण है, आत्मीयता उसके हरेक बर्ताव का सार है।

आत्मसम्मान रखने वाले आदमी के लिए वह आवश्यक है, कि वह भिक्षुक, भीख माँगने वाला, न बने। भीख न माँगने का यह अर्थ नहीं है, कि भिक्षाजीवी बौद्ध भिक्षु इस घुमक्कड़ के अधिकारी नहीं हो सकते। वस्तुतः उस भिक्षाचर्या का घुमक्कड़ों से विरोध नहीं है। वही भिक्षाचर्या बुरी है जिसमें आदमी को दीन-हीन बनना पड़ता है, आत्मसम्मान को खोना पड़ता है। लेकिन ऐसी भिक्षाचर्या बौद्ध भिक्षुओं के लिए - बौद्ध देशों तक ही सीमित रह सकती है। बाहर के देशों में वह संभव नहीं है। महान घुमक्कड़ बुद्ध ने भिक्षाचर्या का आत्मसम्मान के साथ जिस तरह सामंजस्य किया है, वह आश्चर्यकर है। बौद्ध देशों में घुमक्कड़ी करने वाले भिक्षु ही उस यात्रा का आनंद जानते हैं। इसमें संदेह नहीं, बौद्ध देशों के सभी भिक्षु घुमक्कड़ नाम के अधिकारी नहीं होते, प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ों की संख्या तो वहाँ और भी कम है। फिर भी उनके प्रथम मार्गदर्शक ने जिस तरह का पथ तैयार किया, पथ के चिह्न निर्मित किए, उस पर घास-झाड़ी अधिक उग आने पर भी वह वहाँ मौजूद है, और पंथ को आसानी से फिर प्रशस्त किया जा सकता है।

यदि बौद्ध-भिक्षुओं की बात को छोड़ दें, तो आत्मसम्मान को कायम रखने के लिए घुमक्कड़ को स्वावलंबी होने में सहायक कुछ बातों की अत्यंत आवश्यकता है। स्वावलंबन का यह मतलब नहीं, कि आदमी अपने अर्जित पैसे से विलासपूर्ण जीवन बिताए। ऐसे जीवन का घुमक्कड़ी से 3 और 6 का संबंध है। स्वावलंबी होने का यह भी अर्थ नहीं है, कि आदमी धन कमाकर कुल-परिवार पोसने लग जाय। कुल परिवार और घुमक्कड़ी-धर्म से क्या संबंध? कुल-परिवार स्थावर व्यक्ति की चीज है, घुमक्कड़ जंगम है, सदा चलने वाला। हो सकता है घुमक्कड़ को अपने जीवन में कभी वर्ष-दो-वर्ष एक जगह भी रहना पड़ जाय, लेकिन यह स्वेच्छापूर्वक रहने की सबसे बड़ी अवधि है। इससे अधिक रहने वाला, संभव नहीं है, कि अपने व्रत को पालन कर सके। इस प्रकार स्वावलंबी होने का यही मतलब है, कि आदमी को दीन होकर हाथ पसारना न पड़े।

अंत में मैं एक और ऐसी कला या विद्या की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ, जिसका महत्व घुमक्कड़ के लिए बहुत है। वह है प्राथमिक सहायता और चिकित्सा का आरंभिक ज्ञान। मैं समझता हूँ, इनका ज्ञान हरेक घुमक्कड़ को थोड़ा-बहुत होना चाहिए। चोट में कैसे बाँधना और किन दवाओं को लगाना चाहिए, इसे जानने के लिए न बहुत समय की आवश्यकता है न परिश्रम की ही। साधारण बीमारियों के उपचार की बातें भी दो-चार पुस्तकों के देखने या किसी चिकित्सक के थोड़े-से संपर्क से जानी जा सकती हैं। साधारण चीर-फाड़ और साधारण इन्जेक्शन देने का ढंग जानना भी आसान है। पेंसिलीन जैसी कुछ दवाइयाँ निकली हैं, जिनसे बाज समय आदमी की मृत्यु के मुँह से निकाला जा सकता है। इसके ज्ञान के लिए भी बहुत समय की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार चिकित्सा का थोड़ा ज्ञान घुमक्कड़ के लिए आवश्यक है। सेर-आध-सेर भार में चिकित्सा की सामग्री लेकर चल सके तो कोई हर्ज नहीं है। कभी-कभी अस्पताल और डाक्टरों की पहुँच से दूर के स्थानों में व्याधि-पीड़ित मनुष्य को देखकर घुमक्कड़ को अफसोस होने लगता है, कि क्यों मैंने चिकित्सा का थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त नहीं कर लिया। व्याधि-पीड़ित उससे सहानुभूति की आशा रखता है, घुमक्कड़ का हृदय उसे देखकर आर्द्र हो जाता है, किंतु यदि चिकित्सा का कुछ भी परिचय नहीं है, तो अपनी विवशता पर बहुत खेद होने लगता है। इसीलिए चिकित्सा का साधारण ज्ञान घुमक्कड़ के लिए दूसरे की नहीं अपने हृदय की चिकित्सा के लिए जरूरी है।

5

महावीर प्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864–1938) हिन्दी के महान साहित्यकार, पत्रकार एवं युगप्रवर्तक थे। उन्होने हिंदी साहित्य की अविस्मरणीय सेवा की और अपने युग की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना को दिशा और दृष्टि प्रदान की। उनके इस अतुलनीय योगदान के कारण आधुनिक हिंदी साहित्य का दूसरा युग 'द्विवेदी युग' (1900–1920) के नाम से जाना जाता है। उन्होने सत्रह वर्ष तक हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका सरस्वती का सम्पादन किया। हिन्दी नवजागरण में उनकी महान भूमिका रही। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति व दिशा देने में भी उनका उल्लेखनीय योगदान रहा।

जीवन परिचय

महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में 15 मई 1864 को हुआ था। इनके पिता का नाम पं. रामसहाय दुबे था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। धनाभाव के कारण इनकी शिक्षा का क्रम अधिक समय तक न चल सका। इन्हें जी आई पी रेलवे में नौकरी मिल गई। 25 वर्ष की आयु में रेल विभाग अजमेर में 1 वर्ष का प्रवास। नौकरी छोड़कर पिता के पास मुंबई प्रस्थान एवं टेलीग्राफ का काम सीखकर इंडियन मिडलैंड रेलवे में तार बाबू के रूप में नियुक्ति। अपने उच्चाधिकारी से न पटने और स्वाभिमानी

स्वभाव के कारण 1904 में झाँसी में रेल विभाग की 200 रुपये मासिक वेतन की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।

नौकरी के साथ-साथ द्विवेदी अध्ययन में भी जुटे रहे और हिंदी के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, संस्कृत आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

सन् 1903 में द्विवेदी जी ने सरस्वती मासिक पत्रिका के संपादन का कार्यभार सँभाला और उसे सत्रह वर्ष तक कुशलतापूर्वक निभाया। 1904 में नौकरी से त्यागपत्र देने के पश्चात स्थायी रूप से 'सरस्वती' के संपादन कार्य में लग गये। 200 रूपये मासिक की नौकरी को त्यागकर मात्र 20 रूपये प्रतिमास पर सरस्वती के सम्पादक के रूप में कार्य करना उनके त्याग का परिचायक है। संपादन-कार्य से अवकाश प्राप्त कर द्विवेदी जी अपने गाँव चले आए। अत्यधिक रुग्ण होने से 21 दिसम्बर 1938 को रायबरेली में इनका स्वर्गवास हो गया।

प्रकाशित कृतियाँ

महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले लेखक थे, जिन्होंने केवल अपनी जातीय परंपरा का गहन अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि उसे आलोचकीय दृष्टि से भी देखा था। उन्होने अनेक विधाओं में रचना की। कविता, कहानी, आलोचना, पुस्तक समीक्षा, अनुवाद, जीवनी आदि विधाओं के साथ उन्होंने अर्थशास्त्र, विज्ञान, इतिहास आदि अन्य अनुशासनों में न सिर्फ विपुल मात्रा में लिखा, बल्कि अन्य लेखकों को भी इस दिशा में लेखन के लिए प्रेरित किया। द्विवेदी जी केवल कविता, कहानी, आलोचना आदि को ही साहित्य मानने के विरुद्ध थे। वे अर्थशास्त्र, इतिहास, पुरातत्त्व, समाजशास्त्र आदि विषयों को भी साहित्य के ही दायरे में रखते थे। वस्तुतः स्वाधीनता, स्वदेशी और स्वावलंबन को गति देने वाले ज्ञान-विज्ञान के तमाम आधारों को वे आंदोलित करना चाहते थे। इस कार्य के लिये उन्होंने सिर्फ उपदेश नहीं दिया, बल्कि मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं लिखकर दिखाया।

उन्होंने वेदों से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के संस्कृत-साहित्य की निरंतर प्रवहमान धारा का अवगाहन किया था एवं उपयोगिता तथा कलात्मक योगदान के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टि अपनायी थी। उन्होंने श्रीहर्ष के संस्कृत महाकाव्य नैषधीयचरितम् पर अपनी पहली आलोचना पुस्तक 'नैषधचरित चर्चा ' नाम से लिखी (1899), जो संस्कृत-साहित्य पर हिन्दी में पहली आलोचना-पुस्तक भी है। फिर उन्होंने लगातार संस्कृत-साहित्य का अन्वेषण, विवेचन और

मूल्यांकन किया। उन्होंने संस्कृत के कुछ महाकाव्यों के हिन्दी में औपन्यासिक रूपांतर भी किये, जिनमें कालिदास कृत रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, किरातार्जुनीय प्रमुख हैं।

संस्कृत, ब्रजभाषा और खड़ी बोली में स्फुट काव्य-रचना से साहित्य-साधना का आरंभ करने वाले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत और अंग्रेजी से क्रमशः ब्रजभाषा और हिन्दी में अनुवाद-कार्य के अलावा प्रभूत समालोचनात्मक लेखन किया। उनकी मौलिक पुस्तकों में नाट्यशास्त्र(1904 ई.), विक्रमांकदेव चरितचर्या(1907 ई.), हिन्दी भाषा की उत्पत्ति(1907 ई.) और संपत्तिशास्त्र(1907 ई.) प्रमुख हैं तथा अनूदित पुस्तकों में शिक्षा (हर्बर्ट स्पेंसर के 'एजुकेशन' का अनुवाद, 1906 ई.) और स्वाधीनता (जान, स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद, 1907 ई.)।

द्विवेदी जी ने विस्तृत रूप में साहित्य रचना की। इनके छोटे-बड़े ग्रंथों की संख्या कुल मिलाकर 81 है। पद्य के मौलिक-ग्रंथों में काव्य-मंजूषा, कविता कलाप, देवी-स्तुति, शतक आदि प्रमुख है। गंगालहरी, ऋतु तरंगिणी, कुमार संभव सार आदि इनके अनूदित पद्य-ग्रंथ हैं।

गद्य के मौलिक ग्रंथों में तरुणोपदेश, नैषध चरित्र चर्चा, हिंदी कालिदास की समालोचना, नाटय शास्त्र, हिंदी भाषा की उत्पत्ति, कालीदास की निरंकुशता आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अनुवादों में वेकन विचार, रत्नावली, हिंदी महाभारत, वेणी संसार आदि प्रमुख हैं।

मौलिक पद्य रचनाएँ

देवी स्तुति-शतक (1892 ई.)
कान्यकुब्जावलीव्रतम (1898 ई.)
समाचार पत्र सम्पादन स्तवः (1898 ई.)
नागरी (1900 ई.)
कान्यकुब्ज-अबला-विलाप (1907 ई.)
काव्य मंजूषा (1903 ई.)
सुमन (1923 ई.)
द्विवेदी काव्य-माला (1940 ई.)
कविता कलाप (1909 ई.)
पद्य (अनूदित)

विनय विनोद (1889 ई.)– भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' का दोहों में अनुवाद

विहार वाटिका (1890 ई.)– गीत गोविन्द का भावानुवाद

स्नेह माला (1890 ई.)– भर्तृहरि के 'शृंगार शतक' का दोहों में अनुवाद

श्री महिम्न स्तोत्र (1891 ई.)– संस्कृत के 'महिम्न स्तोत्र' का संस्कृत वृत्तों में अनुवाद

गंगा लहरी (1891 ई.)– पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' का सवैयों में अनुवाद

ऋतुतरंगिणी (1891 ई.)– कालिदास के 'ऋतुसंहार' का छायानुवाद

सोहागरात (अप्रकाशित)– बाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद

कुमारसम्भवसार (1902 ई.)– कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' के प्रथम पाँच सर्गों का सारांश

मौलिक गद्य रचनाएँ

नैषध चरित्र चर्चा (1899 ई.)
तरुणोपदेश (अप्रकाशित)
हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना (1901 ई.)
वैज्ञानिक कोश (1906ई.),
नाट्यशास्त्र (1912ई.)
विक्रमांकदेवचरितचर्चा (1907ई.)
हिन्दी भाषा की उत्पत्ति (1907ई.)
सम्पत्ति-शास्त्र (1907ई.)
कौटिल्य कुठार (1907ई.)
कालिदास की निरकुंशता (1912ई.)
वनिता-विलाप (1918ई.)
औद्यागिकी (1920ई.)
रसज्ञ रंजन (1920ई.)
कालिदास और उनकी कविता (1920ई.)
सुकवि संकीर्तन (1924ई.)
अतीत स्मृति (1924ई.)
साहित्य सन्दर्भ (1928ई.)

अदभुत आलाप (1924ई.)
महिलामोद (1925ई.)
आध्यात्मिकी (1928ई.)
वैचित्र्य चित्रण (1926ई.)
साहित्यालाप (1926ई.)
विज्ञ विनोद (1926ई.)
कोविद कीर्तन (1928ई.)
विदेशी विद्वान (1928ई.)
प्राचीन चिह्न (1929ई.)
चरित चर्या (1930ई.)
पुरावृत्त (1933ई.)
दृश्य दर्शन (1928ई.)
आलोचनांजलि (1928ई.)
चरित्र चित्रण (1929ई.)
पुरातत्त्व प्रसंग (1929ई.)
साहित्य सीकर (1930ई.)
विज्ञान वार्ता (1930ई.)
वाग्विलास (1930ई.)
संकलन (1931ई.)
विचार-विमर्श (1931ई.)

गद्य (अनुदित)

भामिनी-विलास (1891ई.)- पण्डितराज जगन्नाथ के 'भामिनी विलास' का अनुवाद

अमृत लहरी (1896ई.)–पण्डितराज जगन्नाथ के 'यमुना स्तोत्र' का भावानुवाद

बेकन-विचार-रत्नावली (1901ई.)–बेकन के प्रसिद्ध निबन्धों का अनुवाद

शिक्षा (1906ई.)–हर्बर्ट स्पेंसर के 'एजुकेशन' का अनुवाद

स्वाधीनता (1907ई.)–जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद

जल चिकित्सा (1907ई.)–जर्मन लेखक लुई कोने की जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद

हिन्दी महाभारत (1908ई.)–'महाभारत' की कथा का हिन्दी रूपान्तर

रघुवंशम (1912ई.)–कालिदास के 'रघुवंशम' महाकाव्य का भाषानुवाद

वेणी-संहार (1913ई.)–संस्कृत कवि भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का अनुवाद

कुमार सम्भव (1915ई.)–कालिदास के 'कुमार सम्भव' का अनुवाद

मेघदूत (1917ई.)–कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद

किरातार्जुनीय (1917ई.)–भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का अनुवाद

प्राचीन पण्डित और कवि (1918ई.)–अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर प्राचीन कवियों और पण्डितों का परिचय

आख्यायिका सप्तक (1927ई.)–अन्य भाषाओं की चुनी हुई सात आख्यायिकाओं का छायानुवाद

वर्ण्य विषय

हिंदी भाषा के प्रसार, पाठकों के रुचि परिष्कार और ज्ञानवर्धन के लिए द्विवेदी जी ने विविध विषयों पर अनेक निबंध लिखे। विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध आठ भागों में विभाजित किए जा सकते हैं - साहित्य, जीवन चरित्र, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, उद्योग, शिल्प भाषा, अध्यात्म। द्विवेदी जी ने आलोचनात्मक निबंधों की भी रचना की। उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में संस्कृत टीकाकारों की भांति कृतियों का गुण-दोष विवेचन किया और खंडन-मंडन की शास्त्रार्थ पद्धति को अपनाया है।

भाषा

द्विवेदी जी सरल और सुबोध भाषा लिखने के पक्षपाती थे। उन्होंने स्वयं सरल और प्रचलित भाषा को अपनाया। उनकी भाषा में न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है और न उर्दू-फारसी के अप्रचलित शब्दों की भरमार है वे गृह के स्थान पर घर और उच्च के स्थान पर ऊँचा लिखना अधिक पसंद करते थे। द्विवेदी जी ने अपनी भाषा में उर्दू और फारसी के शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया, किंतु इस प्रयोग में उन्होंने केवल प्रचलित शब्दों को ही अपनाया। द्विवेदी जी की भाषा का रूप पूर्णतः स्थित है। वह शुद्ध परिष्कृत और व्याकरण के

नियमों से बंधी हुई है। उनका वाक्य-विन्यास हिंदी की प्रकृति के अनुरूप है कहीं भी वह अंग्रेजी या उर्दू के ढंग का नहीं।

शैली

द्विवेदी जी की शैली के मुख्यत: तीन रूप दृष्टिगत होते हैं-

परिचयात्मक शैली

द्विवेदी जी ने नये-नये विषयों पर लेखनी चलाई। विषय नये और प्रारंभिक होने के कारण द्विवेदी जी ने उनका परिचय सरल और सुबोध शैली में कराया। ऐसे विषयों पर लेख लिखते समय द्विवेदी जी ने एक शिक्षक की भांति एक बात को कई बार दुहराया है ताकि पाठकों की समझ में वह भली प्रकार आ जाए। इस प्रकार लेखों की शैली परिचयात्मक शैली है।

आलोचनात्मक शैली

हिंदी भाषा के प्रचलित दोषों को दूर करने के लिए द्विवेदी जी इस शैली में लिखते थे। इस शैली में लिखकर उन्होंने विरोधियों को मुंह-तोड़ उत्तर दिया। यह शैली ओजपूर्ण है। इसमें प्रवाह है और इसकी भाषा गंभीर है। कहीं-कहीं यह शैली ओजपूर्ण न होकर व्यंग्यात्मक हो जाती है। ऐसे स्थलों पर शब्दों में चुलबुलाहट और वाक्यों में सरलता रहती है। 'इस म्यूनिसिपाल्टी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सी मैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान बूचा शाह हैं। बाप दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कार गुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप राय बहादुर बन जाएं और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घर-घिरे रहें।'

विचारात्मक अथवा गवेषणात्मक शैली

गंभीर साहित्यिक विषयों के विवेचन में द्विवेदी जी ने इस शैली को अपनाया है। इस शैली के भी दो रूप मिलते हैं। पहला रूप उन लेखों में मिलता है जो किसी विवादग्रस्त विषय को लेकर जनसाधारण को समझाने के लिए लिखे गए हैं। इसमें वाक्य छोटे-छोटे हैं। भाषा सरल है। दूसरा रूप उन लेखों में

पाया जाता है जो विद्वानों को संबोधित कर लिखे गए हैं। इसमें वाक्य अपेक्षाकृत लंबे हैं। भाषा कुछ क्लिष्ट है। उदाहरण के लिए –

अप्समार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग है। उसका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अप्समार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है।

महत्वपूर्ण कार्य

हिंदी साहित्य की सेवा करने वालों में द्विवेदी जी का विशेष स्थान है। द्विवेदी जी की अनुपम साहित्य-सेवाओं के कारण ही उनके समय को द्विवेदी युग के नाम से पुकारा जाता है।

भारतेंदु युग में लेखकों की दृष्टि की शुद्धता की ओर नहीं रही। भाषा में व्याकरण के नियमों तथा विराम-चिह्नों आदि की कोई परवाह नहीं की जाती थी। भाषा में आशा किया, इच्छा किया जैसे प्रयोग दिखाई पड़ते थे। द्विवेदी जी ने भाषा के इस स्वरूप को देखा और शुद्ध करने का संकल्प किया। उन्होंने इन अशुद्धियों की ओर आकर्षित किया और लेखकों को शुद्ध तथा परिमार्जित भाषा लिखने की प्रेरणा दी।

द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को कविता के लिए विकास का कार्य किया। उन्होंने स्वयं भी खड़ी बोली में कविताएं लिखीं और अन्य कवियों को भी उत्साहित किया। श्री मैथिली शरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय जैसे खड़ी बोली के श्रेष्ठ कवि उन्हीं के प्रयत्नों के परिणाम हैं।

द्विवेदी जी ने नये-नये विषयों से हिंदी साहित्य को संपन्न बनाया। उन्हीं के प्रयासों से हिंदी में अन्य भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद हुए तथा हिंदी-संस्कृत के कवियों पर आलोचनात्मक निबंध लिखे गए।

6

रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी आलोचक, निबन्धकार, साहित्येतिहासकार, कोशकार, अनुवादक, कथाकार और कवि थे। उनके द्वारा लिखी गई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है हिन्दी साहित्य का इतिहास, जिसके द्वारा आज भी काल निर्धारण एवं पाठ्यक्रम निर्माण में सहायता ली जाती है। हिन्दी में पाठ आधारित वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ। हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में भी शुक्ल जी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाव, मनोविकार सम्बंधित मनोविश्लेषणात्मक निबंध उनके प्रमुख हस्ताक्षर हैं। शुक्ल जी ने इतिहास लेखन में रचनाकार के जीवन और पाठ को समान महत्त्व दिया। उन्होंने प्रासंगिकता के दृष्टिकोण से साहित्यिक प्रत्ययों एवं रस आदि की पुनर्व्याख्या की।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सन् 1884 में बस्ती जिले के अगोना नामक गांव में हुआ था। पिता पं. चंद्रबली शुक्ल की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई तो समस्त परिवार वहीं आकर रहने लगा। जिस समय शुक्ल जी की अवस्था नौ वर्ष की थी, उनकी माता का देहान्त हो गया। मातृ सुख के अभाव के साथ-साथ विमाता से मिलने वाले दु:ख ने उनके व्यक्तित्त्व को अल्पायु में ही परिपक्व बना दिया।

सन् 1888 ई. में वे अपने पिता के साथ राठ हमीरपुर गये तथा वहीं पर विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। सन् 1892 ई. में उनके पिता की नियुक्ति

मिर्जापुर में सदर कानूनगो के रूप में हो गई और वे पिता के साथ मिर्जापुर आ गये।

शिक्षा

रामचन्द्र शुक्ल जी के पिता ने शिक्षा के क्षेत्र में इन पर उर्दू और अंग्रेजी पढ़ने के लिए जोर दिया तथा पिता की आँख बचाकर वे हिन्दी भी पढ़ते रहे। सन् 1901 ई. में उन्होंने मिशन स्कूल से स्कूल फाइनल की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा प्रयाग के कायस्थ पाठशाला इण्टर कॉलेज में एफ.ए. (बारहवीं) पढ़ने के लिए आये। गणित में कमजोर होने के कारण उन्होंने शीघ्र ही उसे छोड़कर 'प्लीडरशिप' की परीक्षा उत्तीर्ण करनी चाही, उसमें भी वे असफल रहे। परन्तु इन परीक्षाओं की सफलता या असफलता से अलग वे बराबर साहित्य, मनोविज्ञान, इतिहास आदि के अध्ययन में लगे रहे। मिर्जापुर के पण्डित केदारनाथ पाठक, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' के सम्पर्क में आकर उनके अध्ययन-अध्यवसाय को और बल मिला। यहीं पर उन्होंने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत एवं अंग्रेजी के साहित्य का गहन अनुशीलन प्रारम्भ कर दिया था, जिसका उपयोग वे आगे चल कर अपने लेखन में जमकर कर सके।

कार्यक्षेत्र

मिर्जापुर के तत्कालीन कलक्टर ने रामचन्द्र शुक्ल को एक कार्यालय में नौकरी भी दे दी थी, पर हैड क्लर्क से उनके स्वाभिमानी स्वभाव की पटी नहीं। उसे उन्होंने छोड़ दिया। फिर कुछ दिनों तक रामचन्द्र शुक्ल मिर्जापुर के मिशन स्कूल में चित्रकला के अध्यापक रहे। सन् 1909 से 1910 ई. के लगभग वे 'हिन्दी शब्द सागर' के सम्पादन में वैतनिक सहायक के रूप में काशी आ गये, यहीं पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा के विभिन्न कार्यों को करते हुए उनकी प्रतिभा चमकी। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन भी उन्होंने कुछ दिनों तक किया था। कोश का कार्य समाप्त हो जाने के बाद शुक्ल जी की नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक के रूप में हो गई। वहाँ से एक महीने के लिए वे अलवर राज्य में भी नौकरी के लिये गए, पर रुचि का काम न होने से पुनः विश्वविद्यालय लौट आए। सन् 1937 ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए एवं इस पद पर रहते हुए ही सन् 1941 ई. में उनकी हृदय गति बन्द हो जाने से मृत्यु हो गई।

रचनाएँ

अनुवाद

शुक्ल जी का साहित्यिक व्यक्तित्त्व विविध पक्षों वाला है। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में लेख लिखे हैं और फिर गम्भीर निबन्धों का प्रणयन किया है, जो चिन्तामणि (दो भाग) में संकलित है। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली में फुटकर कविताएँ लिखीं तथा एडविन आर्नल्ड के 'लाइट ऑफ एशिया' का ब्रजभाषा में 'बुद्धचरित' के नाम से पद्यानुवाद किया। शुक्ल जी ने मनोविज्ञान, इतिहास, संस्कृति, शिक्षा एवं व्यवहार सम्बन्धी लेखों एवं पत्रिकाओं के भी अनुवाद किये हैं तथा जोसेफ एडिसन के 'प्लेजर्स ऑफ इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से एवं राखाल दास वन्द्योपाध्याय के 'शशांक' उपन्यास का भी हिन्दी में रोचक अनुवाद किया।

रामचन्द्र शुक्ल ने 'जायसी ग्रन्थावली' तथा 'बुद्धचरित' की भूमिका में क्रमशः अवधी तथा ब्रजभाषा का भाषा-शास्त्रीय विवेचन करते हुए उनका स्वरूप भी स्पष्ट किया है। अनुवादक रूप में उन्होंने 'शशांक' जैसे श्रेष्ठ उपन्यास का अनुवाद किया है। अनुवाद के रूप में उनकी शक्ति या निर्बलता यह थी कि उन्होंने अपनी प्रतिभा या अध्ययन के बल पर उनमें अपेक्षित परिवर्तन कर लिये हैं। 'शशांक' मूल बंगला में दुखान्त है, पर उन्होंने उसे सुखान्त बना दिया है। अनुवादक की इस प्रवृत्ति को आदर्श भले ही न माना जाये, पर उसके व्यक्तित्त्व की शक्ति एवं जीवन का प्रतीक अवश्य माना जा सकता है।

समीक्षाएँ

उन्होंने सैद्धान्तिक समीक्षा पर लिखा, जो उनकी मृत्यु के पश्चात् संकलित होकर 'रस मीमांसा' नाम की पुस्तक में विद्यमान है तथा तुलसी, जायसी की ग्रन्थावलियों एवं 'भ्रमर गीतसार' की भूमिका में लम्बी व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखीं, जिनमें से दो 'गोस्वामी तुलसीदास' तथा 'महाकवि सूरदास' अलग से पुस्तक रूप में भी उपलब्ध हैं।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा, जिसमें काव्य प्रवृत्तियों एवं कवियों का परिचय भी है और उनकी समीक्षा भी लिखी है। दर्शन के क्षेत्र

में भी उनकी 'विश्व प्रपंच' पुस्तक उपलब्ध है। पुस्तक यों तो 'रिडल ऑफ दि यूनिवर्स' का अनुवाद है, पर उसकी लम्बी भूमिका शुक्ल जी के द्वारा किया गया मौलिक प्रयास है। इस प्रकार शुक्ल जी ने साहित्य में विचारों के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस सम्पूर्ण लेखन में भी उनका सबसे महत्वपूर्ण एवं कालजयी रूप समीक्षक, निबन्ध लेखक एवं साहित्यिक इतिहासकार के रूप में प्रकट हुआ है।

समीक्षक

नलिनविलोचन शर्मा ने अपनी पुस्तक 'साहित्य का इतिहास दर्शन' में कहा है कि शुक्ल जी से बड़ा समीक्षक सम्भवत: उस युग में किसी भी भारतीय भाषा में नहीं था। यह बात विचार करने पर सत्य प्रतीत होती है, बल्कि ऐसा लगता है कि समीक्षक के रूप में शुक्ल जी अब भी अपराजेय हैं। अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद उनका पैनापन, उनकी गम्भीरता एवं उनके बहुत से निष्कर्ष एवं स्थापनाएँ किसी भी भाषा के समीक्षा साहित्य के लिए गर्व का विषय बन सकती है।

अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में स्वयं रामचन्द्र शुक्ल जी ने कहा है, "इस तृतीय उत्थान (सन 1918 ई. से) में समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और अन्त:प्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया" कहना न होगा कि कवियों की विशेषताओं एवं उनकी अन्त:प्रवृत्ति की छानबीन की ओर ध्यान, सबसे पहले शुक्ल जी ने दिया है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य को अपेक्षित धरातल देने में सबसे बड़ा हाथ उनका ही रहा है। समीक्षक के रूप में शुक्ल जी पर विचार करते ही एक तथ्य सामने आ जाता है, कि उन्होंने अपनी पद्धति को युगानुकूल नवीन बनाया था। रस और अलंकार आदि का प्रयोग अपने समीक्षात्मक प्रयासों में शुक्ल जी से पहले के लोगों ने भी किया था, पर उन्होंने इस सिद्धान्तों की, मनोविज्ञान के आलोक में एवं पाश्चात्य शैली पर कुछ ऐसी अभिनव व्याख्या दी कि ये सिद्धान्त समीक्षा से बहिष्कृत न होकर पूरी तरह स्वीकार कर लिये गये। इस प्रकार जहाँ उन्होंने एक ओर अपनी आलोचनाओं का ढाँचा भारतीय रहने दिया है, वहीं पर उसका बाह्य रूप एवं रचना-विधान पश्चिम से लिया है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि यह निर्णय करना कठिन है कि उनकी समीक्षा में देशी और विदेशी तत्त्वों का मिश्रण किस अनुपात में हुआ है। इस सम्बन्ध में उन्होंने

तुलसी, सूर या जायसी जैसे श्रेष्ठ कवियों की समीक्षाओं में ही नहीं, अपने इतिहास में छोटे कवियों पर भी, उतनी ही सफलता से किया है।

मानदण्ड-निर्धारण

रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षक-व्यक्तित्त्व की दूसरी विशेषता या महानता है कि उन्होंने मानदण्ड-निर्धारण और उनका प्रयोग दोनों कार्य एक साथ किए हैं तथा इस दोहरे कार्य में कथनी और करनी का अन्तराल कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, बल्कि यों कहें कि अपने मनोविकारों वाले निबन्धों में जीवन, साहित्य और भावों के मध्य जो सम्बन्ध देखा था, उसी के आधार पर उन्होंने अपनी समीक्षा के मानदण्ड निर्धारित किये एवं इन सिद्धान्तों का व्यावहारिक उपयोग उन्होंने फिर किया। सिद्धान्त एवं व्यवहार के मध्य ऐसी संगीत श्रेष्ठतम आलोचकों में ही प्राप्त होती है।

महत्वपूर्ण विशेषता

उनकी एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता समसामयिक काव्य चिन्तन सम्बन्धी जागरूकता है। उन्होंने जिन साहित्य-मीमांसकों एवं रचनाकारों को उद्धृत किया है, उनमें से अधिकांश को आज भी हिन्दी के तमाम आचार्य और स्वनाम धन्य आलोचक नहीं पढ़ते। सम्भवतः रामचन्द्र शुक्ल उन प्रारम्भिक व्यक्तियों में होंगे, जिन्होंने इलियट और कमिंग्ज जैसे रचनाकारों का भारतवर्ष में पहली बार उल्लेख किया है। 1935 ई. में इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण 'काव्य में अभिव्यंजनवाद' में इस जागरूकता के सम्बन्ध में सबसे अधिक दर्शन होते हैं। उन्होंने जे.एस. फ्लिण्ट की चर्चा की है तथा हेराल्ड मुनरो की तारीफ की है तथा कैलीफोर्निया युनीवर्सिटी के अध्यापकों द्वारा लिखित सद्यरू प्रकाशित आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह के उद्धरण दिये हैं।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि पहली बार हिन्दी में शुक्ल जी ने सामाजिक मनोवैज्ञानिक आधार पर किसी कवि की विवेचना करके आलोचना को एक व्यक्तित्त्व प्रदान किया, उसे जड़ से गतिशील किया। एक ओर उन्होंने सामाजिक सन्दर्भ को महत्व प्रदान किया एवं दूसरी ओर रचनाकार की व्यक्तिगत मनःस्थिति का हवाला दिया। शुक्ल जी के व्यक्तित्त्व का एक गुण यह भी है कि वे श्रुति नहीं, मुनि-मार्ग के अनुयायी थे। किसी भी मत, विचार या सिद्धान्त

को उन्होंने बिना अपने विवेक की कसौटी पर कसे स्वीकार नहीं किया। यदि उनकी बुद्धि को वह ठीक नहीं जँचा, तो उसके प्रत्याख्यान में तनिक भी मोह नहीं दिखाया। इसी विश्वास के कारण वे क्रोचे, रवीन्द्र, कुन्तक, ब्लेक या स्पिन्गार्न की तीखी समीक्षा कर सके थे।

आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने सदैव लोक-संग्रह की भूमिका पर काव्य को परखना चाहा तथा लोकसंग्रह सम्बन्धी धारणा में उनकी मध्यवर्गीय तथा कुछ मध्ययुगीन नैतिकता एवं स्थूल आदर्शवाद का भी मिश्रण था। इस कारण उनकी आलोचना यत्र-तत्र स्खलित भी हुई है। शुक्ल जी ने अपने समीक्षादर्श में 'एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाया' काव्य का लक्ष्य माना है तथा इस प्रेषण के द्वारा मनुष्य की सजीवता के प्रमाण मनोविकारों को परिष्कृत करके उनके उपयुक्त आलम्बन लाने में उसकी सार्थकता और सिद्धि देखी है। कवि की अनुभूति को सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त समझने के कारण उन्होंने कविकर्म के लिए यह महत्वपूर्ण माना कि "वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को ढालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे"। इस कसौटी की ही अगली परिणति है कि ऐसी भावदशाओं के लिए अधिक अवकाश होने के कारण उन्होंने महाकाव्य को खण्ड-काव्य या मुक्तक-काव्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया। कुछ इसी कारण 'रोमाण्टिक', 'रहस्यात्मक' या 'लिरिकल' संवेदना वाले काव्य को वे उतनी सहानुभूति नहीं दे सके हैं।

साधारणीकरण

शुक्ल जी असाधारण वस्तु योजना अथवा ज्ञानातीत दशाओं के चित्रण के पक्षपाती भी इसीलिए नहीं थे कि उनसे प्रेषणीयता में बाधा पहुँचती है। इस सिद्धान्त के स्वीकरण के फलस्वरूप साधारणीकरण के सम्बन्ध में कुछ नयी व्याख्या देते हुए उन्होंने 'आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण' माना। यह उनके स्वतंत्र काव्य-चिन्तन तथा अपने अध्ययन (विशेष रूप से तुलसी के अध्ययन) के द्वारा प्राप्त निष्कर्ष का परिचायक भी है। अपनी क्लासिकल रस दृष्टि के कारण ही उन्होंने काव्य में कल्पना को अधिक महत्व नहीं दिया। अनुभूति प्रसूत भावुकता उन्हें स्वीकार्य थी, कल्पना प्रसूत नहीं। इस धारणा के कारण ही वे छायावाद जैसे काव्यान्दोलनों को उचित मूल्य नहीं दे सके। इसी कारण शुद्ध चमत्कार एवं अलंकार वैचित्र्य को भी उन्होंने निम्न कोटि प्रदान की। अलंकार को उन्होंने वर्णन प्रणाली मात्र माना। उनके अनुसार अलंकार का काम "वस्तु

निर्देश" नहीं है। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने लाक्षणिकता, औपचारिकता आदि को अलंकार से भिन्न शैलीतत्त्व के अंतर्गत माना है। काव्य शैली के क्षेत्र में उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना 'बिम्ब ग्रहण' की श्रेष्ठ मानने सम्बन्धी है, वैसे ही जैसे काव्य वस्तु के क्षेत्र में प्रकृति चित्रणसम्बन्धी विशेष आग्रह उनकी अपनी देन है।

भावयोग

शुक्ल ने काव्य को कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के समकक्ष रखते हुए 'भावयोग' कहा, जो मनुष्य के हृदय को मुक्तावस्था में पहुँचाता है। काव्य को 'मनोरंजन' के हल्के-फुल्के उद्देश्य से हटाकर इस गम्भीर दायित्व को सौंपने में उनकी मौलिक एवं आचार्य दृष्टि द्रष्टव्य है। वे "कविता को शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध" स्थापित करने वाला साधन मानते हैं, वस्तुतः काव्य को शक्ति के शील-विकास का महत्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम साधन उन्होंने माना।

सर्वांगीण विचार

नवीन साहित्य रूपों एवं चरित्रविधान की नयी परिपाटियों के कारण उन्होंने अपने रस-सिद्धान्त में केवल साधारणीकरण का ही नये सिरे से विवेचन नहीं किया, साथ ही "रसात्मक बोध के विविध रूपों" की चर्चा करते हुए अपेक्षाकृत हीनतर रस-दशाओं या 'शील-वैचित्र्य' बोध का विचार किया है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से भी उन्होंने 'सिद्धावस्था' और 'साधनावस्था' की दृष्टि से विभाजन किया है। काव्य के अतिरिक्त उन्होंने अपने साहित्य में निबन्ध, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि साहित्यरूपों के स्वरूप पर भी संक्षिप्त, पर महत्वपूर्ण सर्वांगीण विचार प्रकट किये हैं।

समीक्षा-दृष्टि की सम्भावनाएँ

शुक्ल जी की समीक्षा का मूलस्वर यद्यपि व्याख्यात्मक है, पर आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने आकलन सम्बन्धी निर्णय लेने में साहस की कमी नहीं दिखाई है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनके इतिहास का आधुनिक काल से सम्बन्धित अंश है। यह अवश्य है कि इन निर्णयों या व्याख्याओं में उनके वैयक्तिक एवं वर्गगत आग्रह तथा उस युग तक की इतिहास दृष्टि की सीमाएँ थीं। वस्तुतः शुक्ल जी समीक्षा के प्रथम उठान के चरम विकास थे और आगे जिन लोगों ने

उनका अनुगमन किया, वे वहीं महत्वपूर्ण हुए। शुक्लजी की समीक्षा-दृष्टि की सम्भावनाएँ बहुत विकासशील नहीं थीं।

साहित्यिक इतिहास लेखक

रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के प्रथम साहित्यिक इतिहास लेखक हैं, जिन्होंने मात्र कवि-वृत्त-संग्रह से आगे बढ़कर, "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आये हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुए सुसंगठित काल विभाग" की ओर ध्यान दिया। इस प्रकार उन्होंने साहित्य को शिक्षित जनता के साथ सम्बद्ध किया और उनका इतिहास केवल कवि-जीवनी या "ढीले सूत्र में गुँथी आलोचनाओं" से आगे बढ़कर सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से संकलित हो उठा। वह कवि मात्र व्यक्ति न रहकर, परिस्थितियों के साथ आबद्ध होकर जाति के कार्य-कलाप को भी सूचित करने लगे।

इसके अतिरिक्त उन्होंने सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर कालविभाजन और उन युगों का नामकरण किया। इस प्रवृत्ति-साम्य एवं युग के अनुसार कवियों को समुदायों में रखकर उन्होंने "सामूहिक प्रभाव की ओर" ध्यान आकर्षित किया। वस्तुतः उनका समीक्षक रूप यहाँ पर भी उभर आया है, और उनकी रसिक दृष्टि कवियों के काव्य सामर्थ्य के उद्घाटन में अधिक प्रवृत्त हुई हैं, तथ्यों की खोजबीन की ओर कम। यों साहित्यिक प्रवाह के उत्थान-पतन का निर्धारण उन्होंने अपनी लोक-संग्रह वाली कसौटी पर करना चाहा है, पर उनकी इतिहास दृष्टि निर्मल नहीं थी। यह उस समय तक की प्रबुद्ध वर्ग की इतिहास सम्बन्धी चेतना की सीमा भी थी। शीघ्र ही युग और कवियों के कार्य-कारण सम्बन्ध की असंगतियाँ सामने आने लगीं। जैसे कि भक्तिकाल के उदभवसम्बन्धी उनकी धारणा बहुत शीघ्र यथार्थ सिद्ध हुई। वस्तुतः साहित्य को शिक्षित जन नहीं, सामान्य जन-चेतना के साथ सम्बद्ध करने की आवश्यकता थी। उनका औसतवाद का सिद्धान्त भी अवैज्ञानिक है। इस अवैज्ञानिक सिद्धान्त के कारण ही उन्हें कवियों का एक फूटकल खाता भी खोलना पड़ा था। यदि वे युगों के विविध अन्तर्विरोधों को प्रभावित कर सके होते तो ऐसी असंगतियाँ न आतीं।

निबन्धकार

रामचन्द्र शुक्ल का तीसरा महत्वपूर्ण व्यक्तित्त्व निबन्धकार का है। उनके निबन्धों के सम्बन्ध में बहुधा यह प्रश्न उठाया गया है कि वे विषयप्रधान निबन्धकार हैं या व्यक्तिप्रधान। वस्तुत: उनके निबंध आत्मव्यंजक या भावात्मक तो किसी प्रकार भी नहीं कहे जा सकते हाँ इतना अवश्य है कि बीच-बीच में आत्मपरक अंश आ गये हैं। पर ऐसे अंश इतने कम हैं कि उनको प्रमाण नहीं माना जा सकता। उनके निबन्ध अत्यन्त गहरे रूप में बौद्धिक एवं विषयनिष्ठ हैं। उन्हें हम ललित निबन्ध की कोटि में नहीं रख सकते। पर इन निबन्धों में जो गम्भीरता, विवेचन में जो पाण्डित्य एवं तार्किकता तथा शैली में जो कसाव मिलता है, वह इन्हें अभूतपूर्व दीप्ति दे देता है। वास्वत में निबन्धों के क्षेत्र में शुक्ल जी की परम्परा हिन्दी में बराबर चलती जा रही है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि उनके निबन्धों के आलोकपुंज के समक्ष कुछ दिनों के लिए लंलित भावात्मक निबन्धों का प्रणयन एकदम विरल हो गया। उनके महत्वपूर्ण निबन्धों को मनोविकार सम्बन्धी, सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी एवं व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी तीन भागों में बाँटा जा सकता है। यद्यपि इनमें आन्तरिक सम्बन्ध सूत्र बना रहता है। इनमें भी प्रथम प्रकार के निबन्ध शुक्ल जी के महत्तम लेखन के अंतर्गत परिगणनीय हैं।

मृत्यु

सन् 1937 ई. में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर रहते हुए ही सन् 1941 ई. में उनकी हृदय गति बन्द हो जाने से मृत्यु हो गई। साहित्यिक इतिहास लेखक के रूप में उनका स्थान हिन्दी में अत्यन्त गौरवपूर्ण है, निबन्धकार के रूप में वे किसी भी भाषा के लिए गर्व के विषय हो सकते हैं तथा समीक्षक के रूप में तो वे हिन्दी में अप्रतिम हैं।

अध्ययन के प्रति लग्नशीलता शुक्ल जी में बाल्यकाल से ही थी। किंतु इसके लिए उन्हें अनुकूल वातावरण न मिल सका। मिर्जापुर के लंदन मिशन स्कूल से 1901 में स्कूल फाइनल परीक्षा उत्तीर्ण की। उनके पिता की इच्छा थी कि शुक्ल जी कचहरी में जाकर दफ्तर का काम सीखें, किंतु शुक्ल जी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। पिता जी ने उन्हें वकालत पढ़ने के लिए इलाहाबाद भेजा पर उनकी रुचि वकालत में न होकर साहित्य में थी। अत: परिणाम यह

हुआ कि वे उसमें अनुत्तीर्ण रहे। शुक्ल जी के पिताजी ने उन्हें नायब तहसीलदारी की जगह दिलाने का प्रयास किया, किंतु उनकी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण यह संभव न हो सका।

1903 से 1908 तक 'आनन्द कादम्बिनी' के सहायक संपादक का कार्य किया। 1904 से 1908 तक लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक रहे। इसी समय से उनके लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे और धीरे-धीरे उनकी विद्वता का यश चारों ओर फैल गया। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर 1908 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें हिन्दी शब्दसागर के सहायक संपादक का कार्य-भार सौंपा जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक पूरा किया। श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'शब्दसागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पं. रामचंद्र शुक्ल को प्राप्त है। वे नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भी संपादक रहे। 1919 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक नियुक्त हुए जहाँ बाबू श्याम सुंदर दास की मृत्यु के बाद 1937 से जीवन के अंतिम काल (1941) तक विभागाध्यक्ष का पद सुशोभित किया।

2 फरवरी, सन् 1941 को हृदय की गति रुक जाने से शुक्ल जी का देहांत हो गया।

कृतियाँ

शुक्ल जी की कृतियाँ तीन प्रकार की हैं।

मौलिक कृतियाँ

तीन प्रकार की हैं–

आलोचनात्मक ग्रंथ–सूर, तुलसी, जायसी पर की गई आलोचनाएं, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद, रसमीमांसा आदि शुक्ल जी की आलोचनात्मक रचनाएं हैं।

निबन्धात्मक ग्रन्थ–उनके निबन्ध चिंतामणि नामक ग्रंथ के दो भागों में संग्रहीत हैं। चिंतामणि के निबन्धों के अतिरिक्त शुक्लजी ने कुछ अन्य निबन्ध भी लिखे हैं, जिनमें मित्रता, अध्ययन आदि निबन्ध सामान्य विषयों पर लिखे गये निबन्ध हैं। मित्रता निबन्ध जीवनोपयोगी विषय पर लिखा गया उच्चकोटि का निबन्ध है जिसमें शुक्लजी की लेखन शैलीगत विशेषतायें झलकती हैं। क्रोध निबन्ध में उन्होंने सामाजिक जीवन में क्रोध का क्या महत्व है, क्रोधी की मानसिकता-जैसे समबन्धित सेहलुओ का विश्लेशण किया है।

ऐतिहासिक ग्रन्थ–हिंदी साहित्य का इतिहास उनका अनूठा ऐतिहासिक ग्रंथ है।

अनुदित कृतियाँ

शुक्ल जी की अनुदित कृतियां कई हैं। 'शशांक' उनका बंगला से अनुवादित उपन्यास है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी से विश्वप्रपंच, आदर्श जीवन, मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, कल्पना का आनन्द आदि रचनाओं का अनुवाद किया।

सम्पादित कृतियाँ

सम्पादित ग्रन्थों में हिंदी शब्दसागर, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भ्रमरगीत सार, सूर, तुलसी जायसी ग्रंथावली उल्लेखनीय है।

वर्ण्य विषय

शुक्ल जी ने प्रायः साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक निबंध लिखे हैं। साहित्यिक निबंधों के 3 भाग किए जा सकते हैं –

सैद्धान्तिक आलोचनात्मक निबंध– 'कविता क्या है', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', आदि निबंध सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं। आलोचना के साथ-साथ अन्वेषण और गवेषणा करने की प्रवृत्ति भी शुक्ल जी में पर्याप्त मात्रा में है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

व्यावहारिक आलोचनात्मक निबंध–भारतेंदु हरिश्चंद्र, तुलसी का भक्ति मार्ग, मानस की धर्म भूमि आदि निबंध व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं।

मनोवैज्ञानिक निबंध–मनोवैज्ञानिक निबंधों में करुणा, श्रद्धा, भक्ति, लज्जा, ग्लानि, क्रोध, लोभ और प्रीति आदि भावों तथा मनोविकारों पर लिखे गए निबंध आते हैं। शुक्ल जी के ये मनोवैज्ञानिक निबंध सर्वथा मौलिक हैं। उनकी भांति किसी भी अन्य लेखक ने उपर्युक्त विषयों पर इतनी प्रौढ़ता के साथ नहीं लिखा। शुक्ल जी के निबंधों में उनकी अभिरुचि, विचारधारा अध्ययन आदि का पूरा-पूरा समावेश है। वे लोकादर्श के पक्के समर्थक थे। इस समर्थन की छाप उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलती है।

भाषा

शुक्ल जी के गद्य-साहित्य की भाषा खड़ी बोली है और उसके प्राय: दो रूप मिलते हैं -

क्लिष्ट और जटिल

गंभीर विषयों के वर्णन तथा आलोचनात्मक निबंधों के भाषा का क्लिष्ट रूप मिलता है। विषय की गंभीरता के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है। गंभीर विषयों को व्यक्त करने के लिए जिस संयम और शक्ति की आवश्यकता होती है, वह पूर्णत: विद्यमान है। अत: इस प्रकार की भाषा क्लिष्ट और जटिल होते हुए भी स्पष्ट है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है।

सरल और व्यवहारिक

भाषा का सरल और व्यवहारिक रूप शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंधों में मिलता है। इसमें हिंदी के प्रचलित शब्दों को ही अधिक ग्रहण किया गया है यथा स्थान उर्दू और अंग्रेजी के अतिप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भाषा को अधिक सरल और व्यवहारिक बनाने के लिए शुक्ल जी ने तड़क-भड़क अटकल-पच्चू आदि ग्रामीण बोलचाल के शब्दों को भी अपनाया है तथा नौ दिन चले अढ़ाई कोस, जिसकी लाठी उसकी भैंस, पेट फूलना, काटों पर चलना आदि कहावतों व मुहावरों का भी प्रयोग निस्संकोच होकर किया है।

शुक्ल जी का दोनों प्रकार की भाषा पर पूर्ण अधिकार था। वह अत्यंत संभत, परिमार्जित, प्रौढ़ और व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण निर्दोष है। उसमें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं। शब्द मोतियों की भांति वाक्यों के सूत्र में गुंथे हुए हैं। एक भी शब्द निरर्थक नहीं, प्रत्येक शब्द का अपना पूर्ण महत्व है।

शैली

शुक्ल जी की शैली पर उनके व्यक्तित्त्व की पूरी-पूरी छाप है। यही कारण है कि प्रत्येक वाक्य पुकार कर कह देता है कि वह उनका है। सामान्य रूप से शुक्ल जी की शैली अत्यंत प्रौढ़ और मौलिक है। उसमें गागर में सागर पूर्ण रूप से विद्यमान है। शुक्ल जी की शैली के मुख्यत: तीन रूप हैं–

आलोचनात्मक शैली

शुक्ल जी ने अपने आलोचनात्मक निबंध इसी शैली में लिखे हैं। इस शैली की भाषा गंभीर है। उनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है। वाक्य छोटे-छोटे, संयत और मार्मिक हैं। भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है कि उनको समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

गवेषणात्मक शैली

इस शैली में शुक्ल जी ने नवीन खोजपूर्ण निबंधों की रचना की है। आलोचनात्मक शैली की अपेक्षा यह शैली अधिक गंभीर और दुरूह है। इसमें भाषा क्लिष्ट है। वाक्य बड़े-बड़े हैं और मुहावरों का नितांत अभाव है।

भावात्मक शैली

शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंध भावात्मक शैली में लिखे गए हैं। यह शैली गद्य-काव्य का सा आनंद देती है। इस शैली की भाषा व्यवहारिक है। भावों की आवश्यकतानुसार छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के वाक्यों को अपनाया गया है। बहुत से वाक्य तो सूक्ति रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे - बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।

इनके अतिरिक्त शुक्ल जी के निबंधों में निगमन पद्धति, अलंकार योजना, तुकदार शब्द, हास्य-व्यंग्य, मूर्तिमत्ता आदि अन्य शैलीगत विशेषताएं भी मिलती हैं।

साहित्य में स्थान

शुक्ल जी शायद हिन्दी के पहले समीक्षक हैं जिन्होंने वैविध्यपूर्ण जीवन के ताने बाने में गुंफित काव्य के गहरे और व्यापक लक्ष्यों का साक्षात्कार करने का वास्तविक प्रयत्न किया। उन्होंने 'भाव या रस' को काव्य की आत्मा माना है। पर उनके विचार से काव्य का अंतिम लक्ष्य आनन्द नहीं बल्कि विभिन्न भावों के परिष्कार, प्रसार और सामंजस्य द्वारा लोकमंगल की प्रतिष्ठा है। उनकी दृष्टि से महान् काव्य वह है जिससे जीवन की क्रियाशीलता उजागर हुई हो। इसे उन्होंने काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था कहा है। शुक्ल जी की समस्त मौलिक विचारणा लोकजीवन के मूर्त आदर्शों से प्रतिबद्ध है। 'हमारे हृदय का सीधा लगाव प्रकृति के गोचर रूपों से है' इसलिए कवि का सबसे पहला और आवश्यक काम

'बिंबग्रहण' या 'चित्रनुभव' कराना है। पूर्ण विंबग्रहण के लिए वर्ण्य वस्तु की 'परिस्थिति' का चित्रण भी अपेक्षित होता है। इस प्रकार शुक्ल जी काव्य द्वारा जीवन के समग्र बोध पर बल देते हैं। जीवन में और काव्य में किसी तरह की एकांगिता उन्हें अभीष्ट नहीं।

शुक्ल जी की रचनाएँ शास्त्रबद्ध उतनी नहीं हैं जितनी मौलिक। उन्होंने अपनी लोकभावना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्यशास्त्र का संस्कार किया। इस दृष्टि से वे आचार्य कोटि में आते हैं। काव्य में लोकमंगल की भावना शुक्ल जी की समीक्षा की शक्ति भी है और सीमा भी। उसकी शक्ति काव्यनिबद्ध जीवन के व्यावहारिक और व्यापक अर्थों के मार्मिक अनुसंधान में निहित है। पर उनकी आलोचना का पूर्वनिश्चित नैतिक केंद्र उनकी साहित्यिक मूल्यचेतना को कई अवसरों पर सीमित भी कर देता है उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि आलोच्य कवि की मनोगति की पहचान में अद्वितीय है।

जायसी, सूर और तुलसी की समीक्षाओं द्वारा शुक्ल जी ने व्यावहारिक आलोचना का उच्च प्रतिमान प्रस्तुत किया। इनमें शुक्ल जी की काव्यमर्मज्ञता, जीवनविवेक, विद्वत्ता और विश्लेषणक्षमता का असाधारण प्रमाण मिलता है। काव्यगत संवेदनाओं की पहचान, उनके पारदर्शी विश्लेषण और यथातथ्य भाषा के द्वारा उन्हें पाठक तक संप्रेषित कर देने की उनमें अपूर्व सामर्थ्य है। इनके हिंदी साहित्य के इतिहास की समीक्षाओं में भी ये विशेषताएँ स्पष्ट हैं।

शुक्ल जी के मनोविकार सम्बंधी निबन्ध परिणत प्रज्ञा की उपज हैं। इनमें भावों का मनोवैज्ञानिक रूप स्पष्ट किया गया है तथा मानव जीवन में उनकी आवश्यकता, मूल्य और महत्व का निर्धारण हुआ है। भावों के अनुरूप ही मनुष्य का आचरण ढलता है– इस दृष्टि से शुक्ल जी ने उनकी सामाजिक अर्थवत्ता का मनोयोगपूर्वक अनुसंधान किया। उन्होंने मनोविकारों के निषेध का उपदेश देनेवालों पर जबर्दस्त आक्रमण किया और मनोवेगों के परिष्कार पर जोर दिया। ये निबंध व्यावहारिक दृष्टि से पाठकों को अपने आपको और दूसरों को सही ढंग से समझने में मदद देते हैं तथा उन्हें सामाजिक दायित्व और मर्यादा का बोध कराते हैं। समाज का संगठन और उन्नयन करनेवाले आदर्शों में आस्था इन रचनाओं का मूल स्वर है। भावों को जीवन की परिचित स्थितियों से संबद्ध करके काव्य की दृष्टि से भी उनका प्रामाणिक निरूपण हुआ है।

अपने सर्वोत्तम रूप में शुक्ल जी का विवेचनात्मक गद्य पारदर्शी है। गहन विचारों को सुसंगत ढंग से स्पष्ट कर देने की उनमें असामान्य क्षमता है। उनके

गद्य में आत्मविश्वासजन्य दृढ़ता की दीप्ति है। उसमें यथातथ्यता और संक्षिप्तता का विशिष्ट गुण पाया जाता है। शुक्ल जी की सूक्तियाँ अत्यंत अर्थगर्भ होती हैं। उनके विवेचनात्मक गद्य ने हिंदी गद्य पर व्यापक प्रभाव डाला है।

शुक्ल जी का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' हिंदी का गौरवग्रंथ है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया कालविभाग, साहित्यिक धाराओं का सार्थक निरूपण तथा कवियों की विशेषताबोधक समीक्षा इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। शुक्ल जी की कविताओं में उनके प्रकृति प्रेम और सावधान सामाजिक भावों द्वारा उनका देशानुराग व्यंजित है। इनके अनुवादग्रंथ भाषा पर इनके सहज आधिपत्य के साक्षी हैं।

आचार्य शुक्ल बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। जिस क्षेत्र में भी कार्य किया उसपर उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ी। आलोचना और निबंध के क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा युगप्रवर्तक की है। 'काव्य में रहस्यवाद' निबंध पर इन्हें हिन्दुस्तानी अकादमी से 500 रुपये का तथा चिंतामणि पर हिन्दी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग द्वारा 1200 रुपये का मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी की आलोचनात्मक दृष्टि

हिंदी साहित्य के आधार स्तम्भ चिंतक आलोचक उत्कृष्ट निंबधकार दार्शनिक सिद्धहस्त कवि और नीर – क्षीर विवेक से संपन्न संपादक तथा सफल अध्यापक आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म 1884 ई . में पूर्वी उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में हुआ था। 1908 ई . से लेकर 1919 ई . तक का समय शुक्ल जी के मानसिक बौद्विक विकास के निखार और उत्कर्ष का है। इस दौरान उन्होंने इतिहास दर्शन मनोविज्ञान और विज्ञान का उत्साह से अध्ययन किया और लेखन के नाम पर कोश के लिए संगृहीत शब्दों पर प्रामाणिक टिप्पणियों के साथ नागरी प्रचारिणी पत्रिका को नया रूप देने और समृद्व करने के लिए विभिन्न विषयों पर निबंध लिखा शुक्ल जी एक सुविख्यात निबंधकार एवं समालोचक के रूप में प्रसिद्व हैं, किंतु उनके साहित्य के जीवन का आरंभ कविता, कहानी और नाटक रचना से होता है। उनकी प्रथम रचना एक कविता थी जो 1896 ई . में आनंद कादंबिनी में भारत और बसंत नाम से छपी थी। इसी तरह उनके द्वारा – लिखित कहानी ग्यारह वर्ष का समय सरस्वती में प्रकाशित हुई थी जो हिंदी की प्रारंभिक चार सर्वक्षेष्ठ कहानियों में से है। शुक्ल जी का साहित्यिक जीवन विविध पक्षों वाला है। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी

बोली में फुटकर कविताएँ लिखी तथा एडविन आर्नलड के लाइट ऑफ एशिया का ब्रजभाषा में बुद्धचरित के नाम से पद्य भी किया। 1919 ई . में मालवीय जी के आग्रह पर जब शुक्ल जी ने अध्यापन आरंभ किया तब उन्होंने विश्वविद्यालय में हिंदी विषय के स्वीकृत होने के बाद पाठयक्रम के अनुरूप पुस्तकें उपलब्ध न होने की समस्या को चुनौती के रूप में स्वीकार किया। स्वयं स्तरीय ग्रंथों की रचना की और संपादन कार्य भी किया। रस मीमांसा तथा चिंतामणि में संग्रहित लेख जायसी तुलसी और सूर पर लिखी उनकी महत्त्वपूर्ण आलोचनाएँ हिंदी साहित्य में मील का पत्थर मानी जाने वाली कृति हिंदी साहित्य का इतिहास एवं अनेक ग्रंथ इसी अकादमिक चुनौती को स्वीकार करके रचे गए।

आलोचना उन विधाओं में से है जो पश्चिमी साहित्य की नकल पर नहीं बल्कि अपने साहित्य को समझने – बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यकता के कारण जन्मी और विकसित हुई और इस आलोचना को परिपक्वता शुक्ल युग में आकर मिली। इस युग के केन्द्रीय समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी रहे यद्यपि उनके समकालीन बाबू गुलाबराय बाबू श्याम – सुंदर दास आदि समीक्षक भी आलोचना क्षेत्र में सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। शुक्ल जी ने आलोचना के तेवर व कलेवर में अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया। निश्चित मानदंड व अदभुत सहृदयता के साथ शुक्ल जी ने आलोचना अधिकतर बहिरंग बातों तक ही रही। भाषा के गुण – दोष रस अलंकार आदि की समीचीनता इन्हीं सब परंपरागत विषयों तक पहुँची। स्थायी साहित्य में परिगणित होने वाली समालोचना जिसमें किसी कवि की भावना का सूक्ष्म व्यवच्छेदन होता है उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विषेशताएँ दिखाई जाती है बहुत कम दिखाई पड़ी। शुक्ल जी आधुनिक आलोचना के अधिकृत आचार्य है। उन्होंने पारंपरिक काव्य चिंतन को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि तथा पाश्चात्य काव्य चिंतन के आलोक में पुनर्व्याख्यायित करके समृद्ध और प्रासंगिक बनाया। जहाँ वे भरत अभिनव और मम्मट की परंपरा से जुड़े दिखाई देते हैं वही दूसरी ओर अरस्तू आर्नल्ड रिचर्डस और इलियट से संवाद स्थापित करते भी नजर आते हैं। शुक्ल जी की दृष्टि वैज्ञानिक प्रगतिशील एवं इहलौकिक थी। शुक्ल जी एक युग विधेयक और आलोचनात्मक मानदंड के निर्माता हैं। उन्होंने हिन्दी आलोचना को नई दिशा एवं नई जमीन दी है। हिंदी साहित्य में कविता के क्षेत्र में जो स्थान निराला का रहा और उपन्यास के क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचद का रहा आलोचना के क्षेत्र में वही स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। इनके द्वारा तैयार किए गए

प्रतिमान मौलिक और प्रौढ़ थे। अपने अतीत व समकालीनता से जुड़ कर उन्होंने आलोचना की दशा व दिशा बदल दी। इनकी सूक्ष्म दृष्टि ने अब तक हुई आलोचनाओं की कमजोरियों की परख लिया था। अत: वे साहित्य की बहिरंग सजावट के बजाय काव्य की आत्मा, रचनाकार की दृष्टि तथा उनके उद्देश्य को समझ सके और यही समझ उन्हें अन्य आलोचकों से अलग खड़ा करती है।

शोध - प्रविधि

इस शोध - पत्र के लिए शोध सामग्री अधिकांश रूप में द्वितीयक स्रोतों से ग्रहण की गई हैं। इसमें ऐतिहासिक विश्लेषण व वर्णनात्मक दृष्टिकोण के साथ - साथ शोधकर्ता ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों को भी स्थान दिया है। शोध सामग्री प्रसिद्ध पुस्तकों पत्र - पत्रिकाओं व समाचार पत्रों से प्राप्त की गई हैं।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि आलोचना पद्धति के लिए काफी संश्लिष्ट थी परन्तु वह स्पष्टता लिए हुए भी थी। उन्होंने सैद्धान्तिक तथा व्यावाहारिक दानों प्रकार की आलोचनाओं में बखूबी हस्तक्षेप किया। शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि के महत्तव को इस तथ्य से जाना जा सकता है कि उनके समकालीन आलोचक उनकी धारा में तो बहे ही तथा उनके बाद के आलोचकों ने भी या तो उनकी परंपरा का निर्वाह किया या उनकी परंपरा से जुड़कर ही नई धारा संज्ञान करवाया। इस प्रकार शुक्ल जी के बाद की आलोचना उनकी दृष्टियों के समर्थन या विरोध में खड़ी इमारत सी लगती है। आज भी वे उतना ही महत्त्व रखते हैं जितना उस समय में। उनके तर्क आज भी अकाट्य है और उनकी पैनी - पारखी नजर आज भी काबिले - तारीफ है। हिंदी की लगभग 150 वर्षों की आलोचना के इतिहास में शुक्ल जी केंद्रीय पुरूष आज भी बने हुए हैं उनको छोड़ कर किसी साहित्यिक विषय पर कोई चर्चा न शुरू की जा सकती है और न ही समाप्त। इसी से उनकी आलोचना दृष्टि की उपादेयता समझी जा सकती है। शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि पूर्णत: स्पष्ट परिपक्व एवं विकसित है। उनकी सैद्धान्तिक व व्यवहारिक आलोचना दृष्टि को निम्न रूप से समझा जा सकता है।

सैद्धान्तिक दृष्टि

सैद्धान्तिक दृष्टि से वे रससिदान्त के समर्थक और पोषक हैं परन्तु उन्होंने शब्दशक्ति रीति और अलंकार को कमतर महत्त्व नहीं दिया है। उन्हीं के शब्दों

में शब्द – शक्ति रस रीति और अलंकार – अपने यहां की ये बातें काव्य की स्पष्ट और स्वच्छ मीमांस में कितने काम की हैं मैं समझता हूँ इनके संबंध में अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। देशी – विदेशी नई – पुरानी सब प्रकार की कविताओं की समीक्षा का मार्ग इनका सहारा लेने से सुगम होगा।

उनकी आलोचना दृष्टि सूक्ष्म तार्किक विश्लेष्णात्मक व निगमनात्मक विधि पर आधारित थी। वे रसवादी लोकमंगलवादी जैसे उच्च आदर्शो को लेकर साहित्य में चलते हैं। वे हमेशा कबीर की तरह प्रत्यक्षवादी बने रहे। जाति वातावरण तथा क्षण इन तीनों तत्त्वों को उन्होंने काव्य की आत्मा में झांक कर देखा। उनकी स्थिति जाति समाज से जुड़ी थी। वातावरण चित्तवृत्ति को बनाने वाली स्थिति तथा क्षण वह काल था जिसमें रह कर रचनाकार ने उप साहित्य का सृजन किया था। इन तीनों तत्त्वों को लेकर वे उस छत पर जा पहुँचते है जहां से खड़े होकर साहित्यकार ने अपने युग को अपनी कविता को उन कवियों में व्याप्त दर्द को लिखा और महसूस किया था। उनकी प्रत्यक्षवादी दृष्टि उनकी आलोचना को वैज्ञानिक चिंतन देती है जिसके द्वारा वे साहित्य की आलोचना करते है। उनकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ चिंतामणि के निबंधों में समाई हुई है। उनके उन्होंने सैद्धान्तिक समीक्षा के प्रतिमान निश्चित किए हैं। इसे कविता क्या है काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था साधारणीकरण और व्यक्ति – वैचित्रयवाद रसात्मक बोध् के विविध रूप काव्य और प्रकृति काव्य में अर्थ की योग्यता प्रत्यक्षानुभूति एवं रसानुभूति निबंध् क्या है आदि निबंधों द्वारा समझी जा सकती है। उन्होंने पारंपारिक रसवादी विवेचन जो अपने आरंभिक दिनों के व्यापकता के बावजूद पंडित जगन्नाथ तक आते – आते संकीर्ण हो गया था उसे लोकमंगल के आदर्शवादी उच्च भावभूमि से अनुवाद कराकर पुनः उसमें विस्फोट सा कर दिया। साहित्य में सरसता महसूस की जाने लगी। हर साहित्य को लोकमंगलवाद की कसौटी पर कसा जाने लगा। रहस्यवाद (काव्य में रहस्यवाद) की जटिलताओं से दूर जाकर इन्होंने स्पष्टता को महत्व दिया। साधारणीकरण की व्याख्या में उन्होंने एक नई अवधारणा का भी सूत्रपात किया। शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि वृहद जनवादी थी। हिंदी शब्दसागर भूमिका जो बाद में हिंदी साहित्य का इतिहास के रूप में आई में उन्होंने अपनी आलोचनात्मक धारणा को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया है। जिसमें जनता और साहित्य की पारस्परिक रिश्तों को स्वीकार किया गया है। उनकी आलोचना दृष्टि की सबसे बड़ी उपलब्धि लोकमंगलवाद का मान है जिसके लट्ठे से किसी भी साहित्य की

सुंदरता आदर्शपूर्ण – सामाजिक – कल्याणपरक रीति की उत्पत्ति की जा सकती है। यह कसौटी उनकी हिन्दी आलोचना को दी गई सबसे बड़ी उपलब्धि है। कविता का उद्देश्य सहृदय को लोकमानस की भावभूमि पर पहुँचा देना है। यह कहना निश्चित ही जनतांत्रिक परंपरा को सुदृढ़ करना है। वे लोक की भूमि पर अपने कदम मजबूती से जमाकर जीवन एवं साहित्य पर दृष्टि डालते है और उसकी व्याख्या करते है। काव्यशास्त्र संबंधी विवेचन में भी उन्होंने अपने दृष्टिकोण से भाव एवं रस की पुनः व्याख्या की है। भाव उनके लिए मन की वेगयुक्त अवस्था विशेष है। प्रत्यक्ष बोध् अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गुण संश्लेषण का नाम भाव है। मुक्त सहृदय मनुष्य अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किए रहता है। लोक सहृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दश है। उनकी प्रत्येक दृष्टि तार्किक व मनोवैज्ञानिक आधार लिए हुए थी रस की व्याख्या भी इससे अछूती नहीं रही।

व्यवहारिक दृष्टि

शुक्ल जी की सैद्धान्ति समीक्षा साहित्यिक रचनाओं के आधार पर स्थापित है अतः उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा में संगति है। वे जहाँ सैद्धान्तिक प्रतिपादन में प्रवृत्त होते हैं वहाँ प्रचुर उदाहरण और उदाहरण देकर अपने कथन को प्रमाणित कर देते हैं। उनके सिद्धांत उस पर से थोपे हुए नहीं बल्कि साहित्य के रसास्वादन के माध्यम से प्राप्त हुए निष्कर्ष है वे ही उनके समीक्षा सिद्धान्त है।

आलोचना के लिए सहृदयता आवश्यक होती है। शुक्ल जी ने प्राचीन साहित्य की युगानुकूल व्याख्या करते हुए उसे अपने युग की सौन्दर्य दृष्टि से व्याख्या कर प्रासंगिक व सौन्दर्यवान बना दिया। तुलसीदास, सूरदास, जायसी, वाल्मीकि, कालिदास को प्रासंगिक व पुनः प्रतिष्ठित करने का श्रेय शुक्ल जी को है वे शील, शक्ति सौंदर्य को किसी भी नायक का उत्कर्षतम गुण मानते थे। शुक्ल जी का अधिकांश महत्त्वपूर्ण लेखन भूमिका के रूप में हुआ। उनके काव्यचिंतन का विकास उनके प्रिय कवियों की व्याख्या के दौरान हुआ। इससे उन्हें हर भाव के प्रति गहरी व गूढ़ जानकारी मिल गई और उनमें अंतर करने योग्य सामर्थ्य भी। भाव या मनोविकार का विशद विवेचन चिंतामणि में मिलता है। भाव या मनोविकार, ईष्या, घृणा, क्रोध, लोभ और प्रीति, श्रद्धाभक्ति, करूणा, भय अदि का उन्होंने विशद धर्म विश्लेषण व व्याख्या की तुलसी का भक्ति

मानस की धर्मभूमि आनन्द की सिद्धावस्था मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास, तुलसी की भावुकता, बिहारी लाल, घनानन्द, भारतेन्दु और उनका मंडल, श्रीधर पाठक और स्वच्छंदतावाद छायावाद आदि निबंधों में उनकी व्यवहारिक आलोचना दृष्टि मिलती है। जिसमें उन्होंने करूणा, प्रेम, शील व आनंद दशा की साधनावस्था तथा सिद्धावस्था को अनुभव किया और उन सबकी लोकमंगलवादी दृष्टि से व्याख्या भी की है। आचार्य शुक्ल ने अपने सुचिंतित काव्य – प्रतिमानों का अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में बड़ी कुशलता से विनियोग किया। उनकी दृष्टि व्यावहारिक होते हुए भी सूक्ष्म विश्लेषण युक्त व मर्मग्रहिणी थी तथा वे आलोचना करते समय दूसरे आलोचकों से भी यही आशा करते थे। उनका कथन था कि इसके लिए सूक्षम विश्लेषण बुद्धि और मर्म – ग्रहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है। शुक्ल जी ने स्थायी साहित्य में स्थान पानेवाले – तुलसी, जायसी, तथा सूर पर स्वतंत्र रूप में लिखी गई अपनी समीक्षाओं में इन कवियों की विचारधारा में डूबकर उनकी अंतर्वृत्तियों का विश्लेषण करने में अपनी सूक्ष्म बुद्धि और मर्म ग्राहिणी प्रज्ञा का परिचय दिया है।

तुलसीदास काल क्रमानुसार उनकी पहली समीक्षा कृति है। शुक्ल जी ने इसे गोस्वामी तुलसीदास के महत्व के साक्षात्कार और उनकी विशेषताओं तथा उनके साहित्य में छिपी दृष्टियों के लघुप्रयत्न के रूप में लिखा। इसमें उन्होंने तुलसीदास की भक्ति उनके आदर्श उनकी लोकमंगलवादी दृष्टि तथा लोकादर्श का नितांत मौलिक व उत्कृष्टतम् स्वरूप से विवेचन किया है। तुलसीदास चूंकि उनके प्रतिमान है, आदर्श है, समन्वय संस्थापक हैं अतः शुक्ल जी ने उनके व्यक्तित्व व उनके काव्य की गहरी छानबीन की। किसी को महान बनाने के लिए एक बड़े आलोचक की भी आवश्यकता होती है। इस अर्थ में तुलसी का काव्य शुक्ल जी का ऋणी है। शुक्ल जी के अनुसार तुलसीदास भारतीय परम्परा समाज व संस्कृति के जीते जागते प्रतीक थे तथा उनका काव्य इसका प्रमाण बना। उनके राम शील, शक्ति व सौन्दर्य से युक्त लोकोत्तर चरित्र हैं और उनके उपास्य भी। गोस्वामी तुलसीदास के राम में भक्तों के सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट करके उसे अपनी वृत्तियों की ओर ढालने की अदभुत क्षमता है और यही शील उनके भक्तों के भक्ति का मूल है। शुक्ल जी का इस सन्दर्भ में कथन है कि भक्ति और शील की परस्पर स्थिति भी ठीक उसी प्रकार बिम्ब – प्रतिबिम्ब भाव से है जिस प्रकार आश्रय व आलम्बन की और आगे चलिए तो आश्रय और आलम्बन की परस्पर स्थिति भी ठीक उसी प्रकार है जैसे ज्ञाता और ज्ञेय की।

शुक्ल जी वस्तु परिगणन शैली को हेय मानते थे और इसीलिए वे तुलसीदास के वस्तु परिगणन शैली की उपेक्षा की प्रशंसा करते है। भावों के उत्कर्षक के रूप में जब गोस्वामी जी अलंकारों का प्रयोग करते है तो शुक्ल जी भी इस प्रयोग का समर्थन करते हैं। शुक्ल जी मर्यादावादी थे जिनके सामाजिक आदर्श भी उच्च भावभूमि पर स्थित थे। अतः वे तुलसीदास के काव्य में भी आदर्शो व लोक मर्यादाओं को देखते है। उनके रामराज्य की स्थापना की लोकमंगलवादी दृष्टि से वे अभिभूत हो जाते है। वे तुलसी की सहृदयता, प्रबन्धात्मक शक्ति, मेघा, भावुकता, अनुभूति, प्रभाव – सभ्यता, रसवादिता आदि की प्रशंसा करते है। तुलसी के काव्य की विशेषताएँ शुक्ल जी की व्यावहारिक आलोचना को दृष्टि प्रदान करते हैं तथा आलोचना का निर्माण करते हैं। शुक्ल जी जैसा महान आलोचक पाकर अमर हो गया।

जायसी को शुक्ल जी ने श्रेष्ठता के दूसरे पायदान पर स्थान दिया है इसका कारण पदमावत में व्याप्त प्रबंधनियोजन लोकधर्मिता तथा मानवीयता ही है। जायसी का उदात्त सहृदय एकता में विश्वास रखता है। जायसी के अनुसार हिंदू मुस्लिम सभी का सुख – दुख व विरह एक है। शुक्ल जी ने जायसी की अपनी दो सौ पृष्ठों की विस्तृत समीक्षा में प्रेम गाथा परंपरा जायसी का जीवन वृत्त पदमावत की कथा और उसका ऐतिहासिक आधार पदमावत की प्रेमपद्धति ईश्वर – मुख – प्रेम मत और सिद्धांत जायसी का रहस्यवाद जायसी की जानकारी आदि अनेक विषयों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है किंतु उनकी प्रवृत्ति मुख्यतः जायसी की प्रबन्ध कल्पना, रस – निरूपण, भाव व्यंजना, अलंकार विधान और काव्यभाषा जैसे विषयों के विवेचन में ही रमी है। शुक्ल जी ने तुलसी और जायसी के समकक्ष ही सूरदास को माना है। इस संदर्भ में वे सूरदास की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि यदि हम मनुष्य जीवन के संपूर्ण क्षेत्रों को लेते है तो सूरदास की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है पर यदि उनके चुने हुए श्रृंगार तथा वात्सल्य को लेते हैं तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार बहुत अधिक पाते हैं। सूर के सहृदय से निकली प्रेम की तीन प्रबल धाराओं विनय के पद बाल लीला के पद और प्रेम संबंधी पद से सूर ने बड़ा भारी सागर तैयार कर दिया। इस सागर में शुक्ल जी का मन रमता है।

शुक्ल जी ने छायावाद में उपस्थित रहस्यवादिता का विरोध किया। इसी आधार पर उन्होंने कबीर के काव्य का भी विरोध किया था। परन्तु उन्होंने अभ्यान्तर प्रभाव – साम्य के अनुसार अप्रस्तुत की योजना को छायावाद की बहुत

बड़ी विशेषता माना है। शुक्ल जी ने छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद को रहस्यवाद के करीब खड़ा करके उनके समस्त काव्य (खासकर कामायनी) को उस आनंदवाद का प्रवर्तक बना दिया जो एकांतिक प्रेम की वकालत करता है।

निष्कर्ष

शुक्ल जी की आलोचना पांडित्यपूर्ण चिंतन मौलिक विवेचन और गहन अनुशीलन का ऐतिहासिक मानदंड है। महाकवि तुलसीदास, सूरदास, जायसी, पर लिखी गयी विस्तृत समालोचनाओं तथा ग्रन्थ भूमिकाओं द्वारा जहाँ उनकी मौलिक तर्क पूर्ण और अकाटय स्थापनाएँ प्रकाश में आई वहीं हिंदी समालोचना की दृष्टि व्यवस्थित और विकसित हो पाई है। जीवन की समग्रता के कारण ही आचार्य शुक्ल विरोध का सामंजस्य देखने के आग्रही थे। उन्होंने हिंदी की सैद्धान्तिक समीक्षा को नया तथा मौलिक रूप प्रदान किया। पाश्चात्यवादी प्रवृत्तियों एवं विचारधाराओं का गहरा ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद उसे नवीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का श्रेय शुक्ल जी को जाता है। उनके अनुसार किसी साहित्य में उन्नति केवल शहर की भद्दी नकल से नहीं की जा सकती। बाहर से साम्रगी आए खूब आए परन्तु वह कूड़ा – करकट के रूप में न इकट्ठी हो जाए उसकी कड़ी परीक्षा हो उस पर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाए जिससे हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास में सहायता पहुँचायें शुक्ल जी प्रथम ऐसे आचार्य है जिन्होंने हिंदी में सैद्धान्तिक समीक्षा के स्वतंत्र प्रतिमान को विकसित किया है तथा उनकी प्रासंगिकता को व्यावहारिक साहित्य पर कसते हुए आगे बढ़ाया है। हिंदी के मौलिक समीक्षा शास्त्र की नींव भी उन्होंने रखी तथा उसे दृढ़ आधार भी प्रदान किया। वे क्रांतिकारी युग प्रवर्तक आलोचक थे। उन्होंने साहित्य को रीतिवादी मानसिकता से पूर्णतः मुक्त कराते हुए रस जैसे वैयक्तिक तत्त्व को लोकमंगल में जोड़कर उसके भीतर निहित सामाजिक पक्ष को उभारा। उन्होंने संस्कृत के मानदंड व अंग्रेजी समीक्षा के प्रतिमानों से भी हिंदी आलोचना को सुसज्जित करते हुए साहित्य के संबंध में संगत दृष्टिकोण का निर्माण किया है। उनके इस दृष्टिकोण का आधार ज्ञान का भौतिकवादी सिद्धान्त है, जिसके अनुसार ज्ञान और भाव का आधार यह भौतिक जगत ही है। नलिन विलोचन शर्मा ने अपनी पुस्तक साहित्य का इतिहास दर्शन में कहा है कि शुक्ल जी से बड़ा समीक्षक संभवतः उस युग में किसी भी भारतीय भाषा में नहीं था। यह बात देखने पर उचित ठहरती है। बल्कि ऐसा लगता है कि समीक्षक के रूप

में शुक्ल जी अब भी अपराजेय है। निश्चित रूपेण शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि अत्यन्त उदात्त व्यापक जीवन - दृष्टि लिए हुए लोकमंगलवादी धरातल तक फैली हुई है। निश्चित रूपेण शुक्ल जी हिंदी आलोचना के शिखर पुरूष व अधिकृत आचार्य हैं।

आलोचना की संस्कृति और आचार्य रामचंद्र शुक्ल

रामचंद्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना संभव नहीं। ...फिर भी शुक्ल जी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे डरता है, पुराना घबराता है, पंडित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसंद नहीं करते और नवीन की गुलामी तो उनको एकदम असह्य है। शुक्ल जी इसी बात में बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी के पहले प्रोफेसर-आलोचक हैं। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि आलोचना और संस्थान के बीच गहरा रिश्ता हुआ करता है। नामवर सिंह ने 'वाद विवाद संवाद' के एक निबंध में एफ. आर. लीविस के हवाले से इस संदर्भ में विस्तार से लिखा है। दूसरी बात यह कि शुक्ल जी केवल हिंदी साहित्य के आलोचक नहीं हैं। वे भारतीय आलोचना की उस महान परंपरा एवं संस्कृति की एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं जो भरतमुनि से शुरू होती है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह कि हमारे जमाने में केवल सिद्धांत बघारकर खुद को 'महान' घोषित करने-करवाने वाले कुछ आलोचकों की तरह वे शुद्ध सैद्धांतिक आलोचक मात्र नहीं हैं। ऐसे भी शुद्ध सैद्धांतिक आलोचक प्रायः पूरी तरह विश्वसनीय नहीं होता है। जब तक सैद्धांतिक आलोचना के सुनिर्णीत प्रतिमानों के आधार पर श्रेष्ठ रचनात्मक प्रतिभाओं की सही-सही व्याख्या नहीं होती, तब तक वह आलोचना केवल सहित्य का ज्ञान कांड बनकर रह जाने के लिए अभिशप्त होती है।?

रामचंद्र शुक्ल ने अपने आलोचना सिद्धांत का निरूपण अतीत की महान साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत के साथ ही अपने समय के श्रेष्ठ साहित्य को जानने-समझने के क्रम में किया है। उनकी आलोचना सच्चे अर्थों में 'सभ्यता समीक्षा' सिद्ध होती है। इसलिए उनके आलोचना सिद्धांत को किसी एक आयाम में बाँधा नहीं जा सकता है। उनकी सबसे बड़ी खूबी वह अद्वितीय रसार्द्रता एवं रसग्राहिता शक्ति है, जिसके बल पर वे हिंदी साहित्येतिहास और आलोचना के क्षेत्र में उस जमाने में प्रचलित 'कवि-कीर्तन' की परंपरा का निषेध करते हुए

सैद्धांतिक वाग्जाल से हटकर हर तरह की रचनाओं के मर्म का उद्घाटन करने में समर्थ सिद्ध होते हैं।

सिद्धों और नाथों के साहित्य पर विचार करते हुए शुक्ल जी 'सांप्रदायिक शिक्षा' बनाम 'शुद्ध साहित्य' का सवाल उठाते हैं। 'रामचरितमानस' की आलोचना के क्रम में वे मार्मिक स्थलों की पहचान पर बल देते हैं। 'रामचंद्रिका' की सीमाओं का निर्देश करते हुए वे साहित्य में स्थानीय रंगत का मुद्दा उठाते हैं। बिहारीलाल के प्रसंग में वे भाषा की समासशक्ति एवं समाहारशक्ति की बात करते हैं। मतिराम के कवित्व की चर्चा के दौरान वे 'रससिद्धांत और प्रसादपूर्ण भाषा रीति' तथा भारतीय गार्हस्थ्य जीवन से छाँटकर लिए हुए मर्मस्पर्शी चित्रों में भरे भाव की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। घनानंद पर विचार करते हुए वे लिखते हैं कि 'प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।' पंत के संदर्भ में वे सच्चे स्वच्छंदतावाद के आयाम को प्रस्तुत करते हैं। निराला पर बात करते हुए वे कवि की 'बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा' तथा 'संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने' के उनके प्रयास को रेखांकित करते हैं।

कहना न होगा कि जो आलोचक इतने सारे कोणों से साहित्य पर दृष्टिपात कर रहा हो, उसे केवल रसवादी या लोकवादी आचार्य कहकर छुट्टी पा लेना कतई जायज नहीं है। शुक्ल जी हमारी भाषा और साहित्य के एक महान व्यक्तित्त्व हैं, जिन्होंने कदाचित पहली बार हजार वर्षों से विकसनशील हिंदी साहित्य की परंपरा को कायदे से साहित्येतिहास का स्थापत्य प्रदान किया। शुक्ल जी के निधन के ठीक पहले उनके अपराजेय व्यक्तित्त्व पर टिप्पणी करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में लिखा था कि 'भारतीय काव्यालोचनशास्त्र का इतना गंभीर और स्वतंत्र विचारक हिंदी में तो दूसरा हुआ ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ है या नहीं, ठीक से नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ।'

याद रहे कि कि रामचंद्र शुक्ल की महानता का एकमात्र कारण यही नहीं है, हालाँकि यह उनकी महानता का एक बहुत बड़ा कारण है। वस्तुतः उनकी वास्तविक महानता को हम भरत, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट की परंपरा में रखकर ही देख सकते हैं। कारण यह कि शुक्ल जी को भारतीय साहित्यशास्त्रीय चिंतन की उस परंपरा के पुनराख्यान का श्रेय प्राप्त है, जिसका आरंभ भरतमुनि से और अंत मध्यकाल में मम्मट के साथ हो गया था। मम्मट

की पीठ पर रीतिकाल की परंपरा के जो आचार्य आए, उनकी शुक्ल जी के महान व्यक्तित्त्व से कोई तुलना नहीं हो सकती। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मम्मट के बाद दो-ढाई सौ वर्षों की आचार्यत्व की लंबी परंपरा के दौरान हमारी आलोचना के अंतर्गत किसी विशिष्ट प्रतिमान या उल्लेखनीय मूल्य का निर्धारण नहीं हो सका। सच तो यह है कि किसी भी भाषा या साहित्य में रामचंद्र शुक्ल जैसा व्यक्तित्त्व अपने समय की सभ्यता एवं संस्कृति के भीतर गहरे आलोड़न तथा उसकी आंतरिक माँग के दबाब के तहत पैदा होता है।

शुक्ल जी के समय में संस्कृतिकर्मियों एवं बुद्धिजीवियों के सामने पश्चिम के बौद्धिक उपनिवेशवाद के चलते पैदा हुई चुनौतियाँ थीं, जिसने माइकल मधुसूदन दत्त के समय से ही भारतीय मनीषा को आक्रांत कर लिया था। मैनेजर पांडेय द्वारा संपादित सखाराम गणेश देउसकर की पुस्तक 'देशेर कथा' के 'सम्मोहन चित्त विजय' वाले अध्याय में विस्तार के साथ बतलाया गया है कि अँग्रेजी राज ने किस हद तक भारतीय शिक्षित समुदाय की 'साइकी' या मनीषा को सम्मोहित कर लिया था। ऐसे में भारतीय साहित्य एवं समालोचना के क्षेत्र में भी बड़ी तेजी के साथ पश्चिम के सारे मूल्य प्रतिष्ठित होते चले जा रहे थे और राजनीतिक गुलामी के साथ-साथ ज्ञान के विविध क्षेत्रों को भी उपनिवेशवाद की मानसिक गुलामी ने जकड़ रखा था। परिणामतः हमारी अपनी मौलिक सोच-समझ क्षीण हो रही थी। उपनिवेशवाद की इस बौद्धिक चुनौती का सामना शुक्ल जी ने पुरजोर ढंग से साहित्यालोचन के धरातल पर किया। उन्होंने लिखा कि आजकल पाश्चात्यवाद वृक्षों के पत्ते, कुछ हरे नोंच लाए गए कुछ सूखे गिरे हुए, यहाँ पारिजात पत्रों की भाँति प्रदर्शित किए जा रहे हैं। इसलिए उन पेड़ों की परीक्षा आवश्यक है, जिनके ये पत्ते हैं। वे हिंदी के पहले आलोचक हैं, जिन्होंने साहित्य चिंतन के क्षेत्र में व्याप्त मध्ययुगीन मिथकीय वातावरण को अपनी प्रतिभा से ध्वस्त कर साहित्य मीमांसा को बहुत हद तक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। जर्मन विद्वान हेकेल की पुस्तक 'द रिड्ल ऑफ यूनिवर्स' का उन्होंने 'विश्वप्रपंच' नाम से अनुवाद करके उसकी जो तकरीबन सवा सौ पृष्ठों की पांडित्यपूर्ण भूमिका लिखी, वह आज भी हिंदी के विचार साहित्य की अद्वितीय एवं अमूल्य निधि है। जब पूरी दुनिया में डार्विन का विकासवाद जोर-शोर से फैल रहा था और सृष्टि की विकासमूलक व्याख्या की जा रही थी, तब उन्होंने भारतीय मिथकीय परंपरा में प्रचलित अवतारों की कथा का पहली बार वैज्ञानिक परिदृश्य के साथ मेल दिखाया। इस प्रकार शुक्ल जी न केवल वैज्ञानिक पद्धति

के तहत मिथकीय परंपरा पर विचार करते हैं, बल्कि मिथकीय परंपरा को भी वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं। 'विश्वप्रपंच' की भूमिका के माध्यम से वे साहित्यानुशीलन के लिए वैज्ञानिक एवं सामाजिक धरातल की जरूरत पर बल देते हुए साहित्य को व्यक्ति केंद्रित संकीर्ण घेरे से बाहर निकालकर एक ठोस सामाजिक आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं। अपने जमाने में प्रचलित अनेकानेक आध्यात्मिक एवं धार्मिक मान्यताओं का खंडन करते हुए उन्हें वे साहित्य क्षेत्र से बाहर की वस्तु करार देते हैं। 'रस मीमांसा' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है–'अध्यात्म शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।' इसी प्रकार जब वे धार्मिक अंधविश्वासों का खंडन करते हैं, तो उनका लहजा कबीर की तरह आक्रामक दिखाई देता है–'ईश्वर साकार है कि निराकार, लंबी दाढ़ी वाला है कि चार हाथ वाला, अरबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजने वालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठाने वालों से, इन बातों पर विवाद करने वाले अब केवल उपहास के पात्र होंगे। इसी प्रकार सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है, उनके संबंध में जो पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ (छः दिनों में सृष्टि की उत्पत्ति, आदम-हौवा का जोड़ा, चौरासी लाख योनि, आदि) हैं, वे अब काम नहीं दे सकतीं।' वस्तुतः शुक्ल जी ने विकासवाद के सिद्धांत के तहत साहित्य को व्यक्ति के सामाजिक जीवन से अविछिन्न बताते हुए उसके समाजोन्मुख रूप पर बल दिया। अपनी इसी भूमिका में उन्होंने लिखा–'विकास परम सत्य है, बड़े महत्व का सिद्धांत है। सामाजिक उन्नति के लिए हमारे प्रयत्न इसलिए रचित हैं कि हम समष्टि के अंग हैं, अंग भी ऐसे कि चेतन हो गए हैं। अतः समष्टि में उद्देश्य-विधान का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि हम उसके एक अंग होकर अपने-आपमें उसका अनुभव करते हैं।'

रामचंद्र शुक्ल जहाँ एक हद तक भौतिकवादी थे और साहित्य को समाज का वस्तुगत उत्पाद मानते थे, वहीं दूसरी ओर वे संस्कार की दृष्टि से सच्चे अर्थों में वैष्णव थे। आम तौर पर भौतिकवाद और वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के साथ वैष्णव संस्कार की परंपरा परस्पर विरोधी प्रतीत होती है। पर शुक्लजी के व्यक्तित्त्व में हमें 'विरुद्धों का सामंजस्य' दिखाई देता है। दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर वे वस्तुवादी और बुद्धिवादी के बजाय चौतन्यवादी प्रतीत होते हैं और इस प्रकार वे हेगेल की अपेक्षा इमानुएल कांट के ज्यादा निकट दिखाई देते हैं। दूसरे शब्दों में वे संसार को भ्रम और मिथ्या बताने वाले शंकराचार्य की तुलना में जगत को

परमसत्ता की अभिव्यक्ति मानने वाले रामानुज के करीब सिद्ध होते हैं। संभवत: इसी कारण उन्होंने धर्म को सर्वत्र व्यक्तिगत साधना के बजाए लोकमंगल के अस्त्र के रूप में रेखांकित किया है। जगह-जगह सामजिक स्थिति और रचनाकर्म के बीच कारण-कार्य संबंध स्थापित करने की कोशिश के चलते नलिन विलोचन शर्मा ने उन्हें साहित्य का विधेयवादी (पोजिटिविस्ट) इतिहासकार बतलाया है। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि शुक्ल जी विधेयवादी हैं, पर आश्चर्यजनक नव्यता के साथ।

स्मरणीय है कि सच्चा वैष्णव बुनियादी तौर पर विद्रोही हुआ करता है। चूँकि वह चापलूस या खुशामदी कदापि नहीं हो सकता, इसलिए दरबारी वातावरण उसको रास नहीं आता। वैष्णवता की इसी सत्यनिष्ठ भावभूमि से हिंदी के इस प्रथम महान आलोचक का जन्म हुआ, जिसे जनसामान्य से विलग रहने वाले राजदरबारी खुशामदी रीतिकवियों के बजाए जनभावना एवं जनमानस के ज्यादा करीब रहने वाले नि:स्वार्थ भक्त कवि अच्छे लगे।

शुक्ल जी मोटे तौर पर गांधी-युग के लेखक थे और कहना न होगा कि उस युग में गांधीवाद के प्रभाव से मुंशी प्रेमचंद जैसे यथार्थदर्शी कलाकार भी किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित थे। गांधी का वैष्णवता में गहरा विश्वास था और रामचंद्र शुक्ल भी उसी भावभूमि की उपज थे। परंतु तोल्सतोय, गांधी आदि महापुरुषों की 'निष्क्रिय प्रतिरोध' एवं 'दुर्जनों-दुष्टों' से भी सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने वाली भावना का जमकर विरोध करते हुए शुक्ल जी ने 'रस मीमांसा' में लिखा कि 'दीन और असहाय जनता को निरंतर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा करने में ही कर्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती... मनुष्य के शरीर में जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्यकला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।' शुक्ल जी की आलोचना-दृष्टि में हमें एक ओर अन्याय के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध की चेतना दिखाई पड़ती है, तो दूसरी ओर चापलूसी और खुशामद करने या चाहने वाली सामंती-दरबारी मानसिकता के प्रति वितृष्णा भी। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदी कवियों को सच्चा कवि मानने से इनकार करते हुए वे लिखते हैं कि 'ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं। कविता देवी के मंदिर ऊँचे,

खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौंदर्य नहीं ढूँढ़ा करते, वे फूस के झोपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी ऐसे सौंदर्य का दर्शन करते हैं, जिसकी छाया महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती।'

जाहिर है कि शुक्ल जी के पूर्व रीतिकाव्य का विरोध आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया था। पर शुक्लजी ने इस विरोध को एक सामाजिक-सांस्कृतिक आधार प्रदान किया। रीतिकवियों पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने लिखा कि एक ओर ऐसे कविराज थे, जो राजाओं के मुँह में मकरध्वज डालते थे तो दूसरी ओर उनके कान में मकरध्वज डालनेवाले कविराज भी थे। इस प्रकार शुक्ल जी रीतिवाद का विरोध करते हुए प्रकारांतर से सामंती विलासिता एवं भोगवाद के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं और इसी क्रम में उनके आलोचनात्मक प्रतिमान निर्धारित होते हैं, जिनके मूल में लोकमंगल की भावना निहित है।

गौरतलब है कि हिंदी आलोचना में 'लोक' शब्द का इतने व्यवस्थित रूप में सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय रामचंद्र शुक्ल को ही प्राप्त है और उनके लिए लोक का अर्थ है 'जगत'। उनकी यह धारणा अँग्रेजी के 'फोक' या हिंदी में उसी अर्थ में अनुदित 'लोक' से भिन्न एवं व्यापक धारणा है। अध्यात्मवादियों की तरह लोक को जड़ और स्थिर मानने के बजाए उनका लोक-जगत सत्य एवं विकासशील है। मनुष्य के सारे ज्ञान एवं अनुभूतियों को लोकाधृत मानते हुए वे लिखते हैं कि 'मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।' लोकचित्तवृत्ति के काव्य परंपरा के साथ सामंजस्य के संदर्भ में कविता की पहचान निरुपित करते हुए उन्होंने लिखा है–'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य की भावभूमि पर ले जाती है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता ही नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है।' उनकी स्पष्ट धारणा है कि लोक हृदय की सच्ची पहचान के बगैर कोई सही मायने में कवि या कलाकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि कला और जीवन का लोकपाक धरातल समरूप है। यदि गंभीरतापूर्वक विचारें, तो स्पष्ट होगा कि शुक्लजी का साधारणीकरण वाला सिद्धांत भी लोकानुभूतिपरक ही है। इस प्राचीन काव्यशास्त्रीय प्रत्यय व पद्धति को वे अपनी लोकवादी दृष्टि के अनुरूप यथार्थ

की भूमि पर आधृत करके अनुभवगम्य लौकिक भावभूमि प्रदान करते हैं। वे मानते हैं कि लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित हुए बगैर केवल रसवाद की कसौटी पर श्रेष्ठ साहित्य की रचना असंभव है।

विचित्र बात है कि जिन रामचंद्र शुक्ल ने 'रस मीमांसा' की रचना की, उन्होंने ही 'रसवाद' के विरुद्ध खंडनात्मक रुख भी अख्तियार किया। 'रसवाद' के खिलाफ पोलेमिक्स रचने की सबसे बड़ी वजह यह थी कि मध्यकाल तक आते-आते 'रस सिद्धांत' का सत्व स्खलित हो चुका था तथा उसकी 'सैद्धांतिक गतिकी' या 'गतिमय सिद्धांतकी' जड़ता की अवस्था में पहुँच चुकी थी। इस ओर इंगित करते हुए वे लिखते हैं–'रीतिग्रंथों की बदौलत रसदृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो उद्दीपन में डाल दिए गए और कुछ भावक्षेत्र से निकाले जाकर अलंकार के खाते में हाँक दिए गए। ...हमारे यहाँ के कवियों को रीतिग्रंथों ने जैसा चारों ओर से जकड़ा, वैसा और कहीं के कवियों को नहीं। इन ग्रंथों के कारण उनकी दृष्टि संकुचित हो गई, लक्षणों की कवायद पूरी करके वे अपने कर्तव्य की समाप्ति मानने लगे। वे इस बात को भूल चले कि किसी वर्णन का उद्देश्य श्रोता के हृदय पर प्रभाव डालना है।' शुक्ल जी इस बात से बिल्कुल बेखबर नहीं थे कि प्राय: काव्यशास्त्र या आलोचना के महान कहे जाने वाले प्रतिमानों में अपनी तरह के आलोचकीय वर्चस्व के बीज छिपे होते हैं। इसी वजह से प्रतिमानों की बहुलता और उनकी विशिष्ट मुखरता-विधियों से निरंतर लोकतांत्रिक आलोचनात्मक संबंध बनाने के उनके बौद्धिक परिश्रम में भी इस वर्चस्व के प्रतिरोध की एक विधि अवश्य निहित है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है - 'भाव भेद रस भेद अपारा।' स्पष्ट ही भाव और रस को किसी संख्या में बाँधना असंभव है। काव्यशास्त्र में वर्णित नौ रस तो वस्तुत: उपलक्षण मात्र हैं। वे कदापि अंतिम नहीं माने जा सकते। दूसरे शब्दों में कहें, तो जब भी कोई बड़ी प्रतिभा जन्म लेती है, तो वह अपने कृतित्त्व से भावक्षेत्र और रसक्षेत्र का विस्तार करती है। उदाहरण के लिए सूरदास जैसे कवि के चलते 'वात्सल्य' रस की कोटि में शुमार हुआ। इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर सरीखे कवियों के कृतित्त्व ने राष्ट्रीयता को रस की ऊँचाई तक पहुँचा दिया।

रीतिग्रंथों की समस्या यह थी कि इनके चलते साहित्य में भावक्षेत्र अत्यंत संकुचित हो गया था। सबसे पहले भोज ने, जो एक सामंत था, 'शृंगारप्रकाश' नामक ग्रंथ लिखकर शृंगार को 'रसराज' के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके परिणामस्वरूप अन्य रस काव्यक्षेत्र से लगभग बहिष्कृत हो गए। इतना ही नहीं,

मध्यकाल में शृंगार के नाम पर जो रचनाएँ लिखी जा रही थी, उनमें से ज्यादातर में श्रोता या पाठक के मन को किसी उज्ज्वल ऊँचाई पर पहुँचाने की सामर्थ्य के बजाए छिछली रसिकता थी। हिंदी में केशवदास की रसिकता सर्वविदित है। बुढ़ापे में सुंदर स्त्रियों द्वारा 'बाबा' कहे जाने पर उन्हें जो पीड़ा हुई थी, उसके मद्देनजर वे कथित तौर पर एक बड़े 'रसिक' जीव सिद्ध होते हैं–

केसव केसनि अस करी बैरिहु जस न कराहिं।
चंद्रबदनि मृगलोचनी 'बाबा' कहि कहि जाहिं।।

गौरतलब है कि ऐसे रसिक व्यक्ति के बारे में शुक्ल जी ने लिखा–'केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता भी न थी, जो एक कवि में होनी चाहिए। ...प्रबंधकाव्य रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति। ...वे वर्णन वर्णन के लिए करते थे, न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। ...केशव की रचना को सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करने वाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति, जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत व्यंजना के लिए जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तुवर्णन के लिए।' परंपरा से कवियों का जो पदानुक्रम बना हुआ था, उसमें सूरदास और तुलसीदास के बाद केशवदास को तीसरा स्थान प्राप्त था। मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' में तो केशवदास को बहुत ऊँचा दर्जा दिया गया था। कहने की जरुरत नहीं कि आचार्य शुक्ल ने इस पूरे पदानुक्रम को इस हद तक बदल दिया कि डॉ. नगेंद्र की लाख कोशिशों के बावजूद केशव को खोई हुई प्रतिष्ठा वापस नहीं मिल सकी। बीसवीं शताब्दी में हिंदी साहित्य में आधुनिकतावाद के शलाका पुरुष कहे जाने वाले अज्ञेय ने 'केशव की कविताई' शीर्षक निबंध लिखकर केशव को हिंदी कविता की परंपरा की मुख्यधारा से जोड़ने की जबरदस्त पेशकश की, परंतु एक बार शुक्ल जी द्वारा मुख्यधारा से बाहर कर दिए जाने के बाद पुनः उसमें उनकी वापसी संभव न हो पाई। इससे पता चलता है कि कैसे बड़ा आलोचक अपने आलोचनात्मक मूल्यों के तहत साहित्येतिहास में कवियों के पहले से बने बनाए पदानुक्रम को बदल देता है। अँग्रेजी साहित्य के इतिहास में एलियट के पूर्व शेली, कीट्स और बायरन को आधुनिक काल में महाकवि का दर्जा प्राप्त था। परंतु एलियट के बाद जॉन डन, विलियम ब्लेक जैसे दार्शनिक कवियों को केंद्रीय स्थान मिला। रामचंद्र शुक्ल ने केशवदास को अपदस्थ कर मलिक मुहम्मद जायसी का उद्धार किया और हिंदी साहित्य में सूर एवं तुलसी के बराबर उन्हें स्थान दिया। स्मरणीय है कि मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' में जायसी को

शामिल नहीं किया गया था। जायसी के 'पद्मावत' में नागमती के विरह वर्णन को शुक्ल जी हिंदी साहित्य में अद्वितीय घोषित करने के साथ ही मध्यकाल में जायसी को हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वाले कवियों में एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में स्थापित करते हैं। उनका मानना था कि भक्तिकाव्य संस्कृत काव्यशास्त्र के सामने चुनौती है और कहना न होगा कि इस चुनौती का अपने स्तर पर उन्होंने सामना भी किया।

वस्तुतः शुक्ल जी का रीतिवाद-विरोध उनकी सामंत-विरोधी चेतना की सांस्कृतिक प्रतिध्वनि है। इसीके चलते वे रीति कवियों के बजाए भक्त कवियों को तरजीह देते हैं और आगे चलकर भारतेंदु हरिशचंद्र को उनकी सामाजिक चेतना के मद्देनजर आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। दूसरे शब्दों में अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक क्षयिष्णु परंपरा से लोहा लेते हुए शुक्ल जी रसवादी होने के बावजूद अपनी आलोचना में प्रकारांतर से रसवाद के विरुद्ध खंडनात्मक रुख अख्तियार करते हैं, 'पॉलेमिक्स' रचते हैं। इसके साथ ही वे पश्चिम के औपनिवेशिक वैचारिक एवं सांस्कृतिक आक्रमण से भी दो-चार होते हैं। उस जमाने में फ्रांस में उत्पन्न बहुत सारे वाद इंग्लैंड से होते हुए बंगाली भाषा के माध्यम से भारत में घुसपैठ कर रहे थे। सन् 1890 में रवींद्रनाथ की 'निर्भर स्वप्नभंग' कविता प्रकाशित हुई थी और तब तक उनकी ख्याति धीरे-धीरे पूरे भारत में फैल गई थी, जिसका प्रभाव हिंदी की आरंभिक छायावादी कविता पर बहुत हद तक पड़ा था। इतने बड़े माने जाने वाले भारतीय कवि के बारे में शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा कि वे बहुत बड़े आलंकारिक मालूम पड़ते हैं। इसी प्रकार उस जमाने में लिखी जा रही छायावादी कविताओं की अभिव्यंजना शैली एवं उनमें निहित रहस्यात्मकता का विरोध करते हुए उनका कहना था कि 'छायावाद नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र, वस्तुविन्यास की विश्रृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभावपक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरोन्मुख काव्यक्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया।' आज यह सर्वविदित है कि शुक्ल जी की आलोचना से कालांतर में छायावाद में गुणात्मक परिवर्तन आया और वह आगे चलकर समृद्ध हुआ। नतीजतन उसमें 'कामायनी' एवं 'राम की शक्तिपूजा' जैसी श्रेष्ठ कविताओं की रचना संभव हो सकी।

वे हिंदी के पहले आलोचक हैं, जिन्होंने 1929 ई. में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' जैसा महत्वपूर्ण निबंध लिखा और यह जानी हुई बात है कि यह निबंध छायावादी काव्यांदोलन की छाया में लिखा गया था। तब तक छायावाद के कई कवि अनेकानेक प्रकृति विषयक कविताएँ लिख चुके थे, जिनमें पंत का 'पल्लव' संग्रह सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। ऐसे में शुक्ल जी अपनी पूरी साहित्यिक परंपरा का संधान करते हुए इस संदर्भ में वाल्मीकि की महानता पर प्रकाश डालते हैं और छायावाद की शक्ति एवं सीमा का निर्देश करते हैं। वे छायावाद के हृदय पक्ष को स्वीकृति प्रदान करते हैं, लेकिन उस पर हावी अभिव्यंजनावादी तत्त्वों को अस्वीकार करते हैं। अभिव्यंजनावाद उन्हें एक तरह का अलंकारवाद प्रतीत होता है, जिसे वे 'वक्रोक्तिवाद के विलायती उत्थान' के रूप में अभिहित करते हैं। इस प्रसंग में प्रकृति के चितेरे कवि माने जाने वाले सुमित्रानंदन पंत के बारे में वे लिखते हैं कि 'पंतजी की 'छाया', 'वीचिविलास', 'नक्षत्र' में जो यहाँ से वहाँ तक उपमानों का ढेर लगा है, उनमें से बहुत से तो अत्यंत सूक्ष्म और सुकुमार साम्य के व्यंजक है और बहुत से रंग-बिरंगे खिलौनों के रूप में ही हैं। ऐसी रचनाएँ उस 'कल्पनावाद', 'कलावाद' या 'अभिव्यंजनावाद' के उदाहरण-सी लगती है, जिसके अनुसार कविकल्पना का काम प्रकृति की नाना वस्तुएँ लेकर एक नया निर्माण करना या नूतन सृष्टि खड़ी करना है। प्रकृति के सच्चे स्वरूप, उसकी सच्ची व्यंजना... करना उक्त वादों के अनुसार आवश्यक नहीं। प्रकृति के नाना चित्रों के द्वारा अपनी भावनाएँ व्यक्त करना तो बहुत ठीक है, पर उन भावनाओं को व्यक्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी तो गृहीत चित्रों में होनी चाहिए।' इसी प्रकार 'रहस्यवाद' को भी उस जमाने की हिंदी कविता के स्वाभाविक विकास में बाधक मानते हुए उन्होंने लिखा कि 'हिंदी में स्वच्छंदतावाद का प्रवाह रवींद्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं के अतिरिक्त प्रभाव तथा अँग्रेजी से तरह-तरह के लाक्षणिक प्रयोगों के ज्यों के त्यों हिंदी अनुवाद जड़ी रचनाओं के चलते अवरुद्ध हुआ। 'कनक प्रभात', 'विचारों में बच्चों की साँस', 'स्वर्ण समय', 'प्रथम मधुबाल', 'तारिकाओं की तान', 'स्वप्निल क्रांति', ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरों की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-उधर मिलने लगे। ...काव्य की प्रकृत पद्धति तो यह है कि वस्तुयोजना चाहे लोकोत्तर हो, पर भावानुभूति का स्वरूप सच्चा अर्थात स्वाभाविक वासनाजन्य हो। भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा, तो हृदय से उसका संबंध क्या रहेगा?' कहना न होगा कि शुक्लजी की आलोचना के बाद अभिव्यंजनावाद एवं रहस्यवाद का

धुंधलका छट जाता है और छायावाद प्रौढ़ता प्राप्त करता है। उनकी धारणा थी कि स्वच्छंदतावाद लोकजीवन की सरलता, सरसता से आप्लावित एक ऐसा काव्यांदोलन था, जिसमें प्राचीन रुढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव था। हिंदी में उन्हें इसका आरंभिक रूप श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त आदि के काव्य में जब दिखाई पड़ा, तो उन्होंने इसकी सराहना की। परंतु जब छायावाद के नाम पर रचित ज्यादातर कविताओं में उन्हें अभिव्यंजनावाद के साथ-साथ गुंजलक मारकर बैठी रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ प्रचुर मात्रा में दिखाई देने लगीं, तो एक जिम्मेदार आलोचक के तौर पर उन्होंने इसकी बखिया उधेड़नी शुरू की। वस्तुतः छायावादी कविता में मौजूद रहस्यवादी चेतना का शुक्लजी की वैज्ञानिक परिदृष्टि से कोई मेल नहीं बैठ रहा था। बावजूद इसके यह ध्यान देने योग्य बात है कि कविता में जहाँ-जहाँ रहस्यवाद अपनी पूरी स्वाभाविकता के साथ संचरण करता है, उसका समर्थन करने में शुक्ल जी कदापि नहीं हिचकते। उदहारण के लिए पंत की 'स्वप्न' एवं 'मौन नियंत्रण' कविता उन्हें रहस्यवाद की स्वाभाविक भूमि पर संचरित होती दिखाई देती है। उन्होंने लिखा है - 'पंतजी की रहस्यभावना स्वाभाविक है, सांप्रदायिक नहीं। ऐसी रहस्यभावना इस रहस्यमय जगत के नाना रुपों को देख प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में कभी-कभी उठा करती है। .. .'गुंजन' में भी पंतजी की रहस्यभावना अधिकतर स्वाभाविक पथ पर पाई जाती है।' उनके ऐसे अनेकानेक वक्तव्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि वे दुराग्रही आलोचक नहीं थे।

कविता को शुक्लजी ने भाव-व्यापार माना है और इस क्रम में 'हृदय की मुक्तावस्था' या रसदशा को महत्व प्रदान कर उन्होंने कदाचित इसे पुष्ट भी किया है। उनके अनुसार लोक हृदय में तल्लीन होने की दशा का नाम ही रसदशा है। स्मरणीय है कि भाव पर बल देने के बावजूद वे रूप को नकारते नहीं हैं। उन्होंने लिखा है कि 'जगत अनेक रूपात्मक है और हमारा हृदय अनेक भावात्मक है।' उनके अनुसार कवि का काम इन दोनों के बीच रागात्मक संबंध कायम करना है। इतना ही नहीं, वे भावना को ज्ञान का सहचर मानते हैं। उन्होंने भाव को प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति का गूढ़ संश्लेष बताते हुए यह भी लिखा है कि 'दूसरे के अंतर्गत आलंबन के प्रति अनुभूति विशेष के बोध के अतिरिक्त अनेक प्रकार की भावनाएँ और विचार भी आ जाते हैं।' कवियों की 'अंतर्वृति का सूक्ष्म व्यवच्छेद' करने के पूर्व शुक्लजी उनके जीवन-वृत से भी पाठकों को अवगत कराते हैं। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में

कवि का जीवन, उसकी विचारधारा, भावबोध, शिल्प आदि की परस्पर-संबद्धता से ही काव्यार्थ निर्मित होता है। यह ठीक ही कहा गया है कि कवि एक ओर ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है, जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को जगाने में समर्थ होती है, तो दूसरी ओर वह उन वस्तुओं के अनुरूप भावों का अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है और कविता में कवि कर्म विधान के ये दोनों पहलू अन्योन्याश्रित होते हैं। परंतु ध्यान देने की बात है कि यदि 'अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाना ही कवि कर्म है', तो यह कार्य वस्तुनिष्ठ तथ्यों का सहारा लिए बगैर असंभव है। एलियट के शब्दों में कहे, तो बिना वस्तुगत प्रतिरूप के किसी भाव या अनुभूति को दूसरों तक संप्रेषित नहीं किया जा सकता।

रामचंद्र शुक्ल का एक बहुत बड़ा अवदान है 'रस निष्पत्ति' को रहस्य के आवरण से बाहर निकालकर उनके मनोवैज्ञानिक रूप की प्रतिष्ठा। 'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि ने रस की निष्पति के बारे में लिखा है 'विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्रस- निष्पतिः।' वस्तुतः यह प्रक्रिया एक मनोदैहिक (साइकोसोमैटिक) प्रक्रिया है। परंतु भरत के बाद भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन पर विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों एवं निकायों का इतना ज्यादा असर हुआ कि अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत सिद्धांत के आधार पर रस को आनंदमय मानते हुए बल देकर कहा कि यह आनंद विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है। कालांतर में रस को आनंदस्वरूप मानकर उसे ब्रह्म के साहचर्य से आत्मा को प्राप्त होने वाले तथाकथित आनंद का सहोदर घोषित कर दिया गया। पंडितराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में लिखा -

'सत्वोद्रेकादखंडस्वप्रकाशानंद चिन्मयः
वेद्यांतरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः
लोकोत्तरचमात्कारप्राणरू कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः'

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने विवेचन में रस के आध्यात्मिक आनंदस्वरूप होने का खंडन करते हुए साफ लिखा कि 'अध्यात्म शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कोई जरूरत नहीं है। ...इस आनंद शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है।.. उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।' 'रस मीमांसा' में एक लंबा उदाहरण देकर वे बतलाते हैं कि क्रोध, शोक,

जुगुप्सा आदि भाव अपने प्रकृत रूप का त्याग करके आनंदस्वरूप कदापि नहीं बनते। इसी प्रकार 'सत्यहरिश्चंद्र' की शैव्या के उदाहरण के द्वारा वे स्पष्ट करते हैं कि दुखात्मक भाव आनंद के बजाए दुख की ही अनुभूति कराते हैं। प्राचीन मान्यता के अनुसार दुख की अनुभूति रसात्मक नहीं मानी जाती थी। इसका खंडन करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं कि 'करुण रस प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के संबंध में यह कहना कि आनंद में भी तो आँसू आते हैं, केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुख का ही अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुख भी रसात्मक होता है।' निश्चित तौर पर रसात्मक अनुभूति से व्यक्तित्त्व समृद्ध होता है, निजता का परिहार होता है और पाठक लोक हृदय में लीन हो जाता है। दूसरे शब्दों में जब आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है, तो हम उच्च कोटि की रसदशा को प्राप्त करते हैं। इस प्रक्रिया में आश्रय के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित होता है। ऐसे तो आलंबन कोई व्यक्ति विशेष ही होता है, पर उसमें लेखक ऐसे गुणों एवं धर्मों की प्रतिष्ठा करता है, जो सबके हो जाते हैं और सबमें समान भावों की उत्पत्ति या अनुभूति कराते हैं। इससे विलग जब श्रोता, पाठक या दर्शक काव्य या नाटक में आए किसी पात्र से शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करता है, तो शुक्लजी की दृष्टि में यह मध्यम कोटि की रस दशा है। उनके अनुसार उपरोक्त दोनों ही स्थितियों से भिन्न जब रचनाकार चमत्कार और वैचित्र्य से पाठक को आश्चर्य और कुतूहल मात्र की अनुभूति कराने की चेष्टा करता है, तो यह निम्न कोटि की रसदशा होती है, जिसके मूल में व्यक्तिवाद होता है।

विजयदेव नारायण साही की शब्दावली उधार लेकर कहें तो आलोचना यदि साहित्य का दर्शन शास्त्र है, जिसके तहत संश्लिष्ट उत्तर का विश्लेषण करके उसकी सीमारेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाया जाना जरूरी है, तो जाहिर तौर पर रामचंद्र शुक्ल एक भाववादी आलोचक एवं विचारक सिद्ध होते हैं। परंतु उनका भाववाद एक ऐसा विवेकशील भाववाद है, जो अंततः भौतिकवाद का सहयोगी सिद्ध होता है। सौंदर्यानुभूति-विषयक भाववादी धारणा के बजाए उनके दृष्टिकोण में भौतिकवाद के बीज विद्यमान हैं। उन्होंने लिखा है कि 'जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुंदर वस्तु से अलग सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं।' आगे वे 'तदाकार परिणति' पद का प्रयोग करते हुए सिद्ध करते हैं कि 'सौंदर्य न तो मात्र चेतना में होता है और न ही सिर्फ वस्तु में, दोनों के संबंध से ही सौंदर्यानुभूति होती है।' वे जड़ता के बजाए गति में सुंदरता को

रेखांकित करने के आग्रही हैं। भले ही वह गति सफल हो या विफल। शुक्ल जी की सौंदर्य-दृष्टि में निहित संघर्ष की चेतना तब और खुलकर सामने आती है, जब वह कहते हैं कि 'विफलता में भी एक निराला विषण्ण सौंदर्य होता है।'

इसलिए यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि शुक्लजी के लिए आलोचना साहित्यिक कृतियों के निष्क्रिय रसास्वादन के बजाए एक सक्रिय मूल्यांकन है और उनका प्रत्येक मूल्यांकन गहरे वैचारिक संघर्ष का नतीजा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने सही लिखा है कि 'प्राचीन साहित्यशास्त्री स्थायी भावों को रसरूप में प्रकट करके साहित्यिक प्रक्रिया का अंत निष्क्रियता में कर देते थे। शुक्ल जी ने भाव की मौलिक व्याख्या करके निष्क्रिय रस-निष्पत्ति की जड़ काट दी है।'

किसी राष्ट्र की संस्कृति के निर्माण में आलोचना की भूमिका की शिनाख्त करते हुए अज्ञेय ने कहा था—'हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा, क्योंकि आलोचना अनुभूति को गहरा और विस्तृत करती है, और गहरी तथा विस्तृत अनुभूति के बिना संस्कृति संभव नहीं है।' इस दृष्टि से विचार करने पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना हिंदी में सांस्कृतिक आलोचना का प्रस्थान बिंदु सिद्ध होती है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने शुक्लजी के बारे में लिखा है—'आचार्य का विषय प्रतिपादन जैसा गुरु गंभीर है उसके बीच उनका सूक्ष्म व्यंग्य और तीव्र तथा पैना हो गया है, घनी-बड़ी मूँछों के बीच हल्की मुस्कान की तरह।'

7

मिश्र बंधु

मिश्रबंधु नाम के तीन सहोदर भाई थे, गणेशबिहारी, श्यामबिहारी और शुकदेवबिहारी। ग्रंथ ही नहीं एक छंद तक की रचना भी तीनों जुटकर करते थे। इसलिये प्रत्येक की रचनाओं का पार्थक्य करना कठिन है।

जीवन परिचय

मिश्रबन्धु कात्यायन गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। 'मुहूर्त चिंतामणि' (ज्योतिष ग्रंथ) के प्रणेता चिंतामणि मिश्र इनके पूर्वज थे। इनके पूर्वजों का वासस्थान भगवंतनगर (जिला हरदोई, उत्तर प्रदेश) था। बाद में वे इंटौजा (जिला लखनऊ) चले आये जहाँ मिश्रबंधुओं का बाल्यकाल बीता। गणेशबिहारी (जन्म संवत् 1922) को हिंदी, संस्कृत और फारसी की शिक्षा घर पर ही मिली। दो विवाह हुए। दोनों से दो पुत्र हुए। ये लखनऊ डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य और उपाध्यक्ष भी रहे। श्याम बिहारी (जन्म संवत 1930) को एम0 एम0 तक की उच्च शिक्षा मिली। 11 वर्ष की उम्र में विवाह हुआ। तीन पुत्र हुए। इन्होंने डिप्टी कलक्टर और डिप्टी कमिश्नर जैसे प्रशासकीय सरकारी पदों पर काम किया। इनका पहला लेख 'सरस्वती भाग' 1 में 'हमीर हठ' विषयक समालोचना निकला। रायबहादुर शुकदेवबिहारी (जन्म संवत 1935) को भी बी0 ए0 तथा वकालत तक की शिक्षा मिली। इन्होंने पहले वकालत की शुरुआत कन्नौज में की, फिर लखनऊ चले आए। तत्पश्चात् वे मुंसिफ, दीवान और सबजज हुए।

सभी ने हिंदी स्वाध्याय से ही सीखी। सभी बड़े विद्याव्यसनी, उदार, स्वतंत्रचेता और मिलनसार थे। विलायत भी हो आए थे।

प्रमुख रचनाएँ

लवकुश चरित्र,

हिंदी नवरत्न,

मिश्रबंधु विनोद(4 भाग):-गणेशबिहारी मिश्र द्वारा रचित हिन्दी साहित्य का इतिहास

नेत्रोन्मीलन, पूर्वभारत, उत्तर भारत (नाटक), भारतवर्ष का इतिहास (2 भाग), भारत विनय (पद्य,) बूँदी वारीश (पद्य), पुष्पांजलि (गद्य पद्यमय लेख संग्रह), भूषण ग्रंथावली, देव ग्रंथावली, सुर सुधा, जापान, रूस और स्पेन के इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदुइज्म (अंग्रेजी) इत्यादि।

इनमें हिंदी साहित्य के इतिहास और समालोचना की दृष्टि से 'हिंदी नवरत्न' और 'मिश्रबंधु विनोद' का विशिष्ट महत्व है। प्रथम में हिंदी के श्रेष्ठ नौ कवियों तुलसी, सूर, देव, बिहारी, भूषण, केशव, मतिराम, चंदबरदायी, हरिश्चन्द्र को क्रमशः बृहत्त्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी में श्रेणीबद्ध कर जीवनी के साथ उनके काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। दूसरी रचना 'मिश्रबंधु विनोद' में पाँच हजार के लगभग कवियों एवं लेखकों का परिचायत्मक उल्लेख हुआ है। इनकी समीक्षा पद्धति की सर्वप्रमुख विशेषता श्रेणी विभाजन है जिसके मूल में शास्त्रीयतायुक्त काव्योत्कर्ष और तुलना है। दोषों की अपेक्षा गुणों की ही चर्चा अधिक की गई है। इतना होने पर भी इनकी समीक्षा में मार्मिक निरूपण, संतुलन निर्वाह, तटस्थता, विश्लेषण, तर्क, प्रौढ़ विवेचन की कमी दिखाई पड़ती है।

भारतेंदु हरिश्चंद और उनके मंडल को अन्य विधाओं और आधुनिक काल की तरह हिंदी आलोचना के श्रीगणेश का भी श्रेय जाता है। इस शृंखला में पहला ग्रंथ 'शिवसिंह सरोज' है जो अपने साहित्येतिहास वा कविवृत्त के कलेवर में आलोचना के कुछ सूत्र धारण किए हुए है। परंतु ठीक-ठिकाने की आलोचनात्मक रचना 1883 में लिखा भारतेंदु का 'नाटक' शीर्षक निबंध ही है। गौर करने की बात है कि यह प्रारंभिक आलोचनात्मक कृति भी संस्कृत नाटकों और अन्य नाट्य परंपराओं से बहस करती हुई अपनी देशी नाट्य परंपरा के विकास में प्रवृत होती है। पर आलोचना का व्यावहारिक रूप में उदय पुस्तक समीक्षाओं से ही

माना जाता है। 'हिंदी प्रदीप' में लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' की बालकृष्ण भट्ट की समीक्षा और 'आनंदकादंबिनी' में प्रेमघन की समीक्षा इस लिहाज से महत्वपूर्ण हैं। ये पुस्तक समीक्षाएँ गुण-दोष का निरूपण करती हैं परंतु कैनन निर्माण की प्रक्रिया को समझने के लिहाज से वे इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसके उपरांत साहित्य-नियमन का बीड़ा उठाया। यह सर्वविदित ही है कि 'सरस्वती' के मंच को उन्होंने साहित्य के एकमात्र मंच के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कोई व्यवस्थित आलोचना तो न लिखी परंतु उनके द्वारा लिखे गए फुटकर लेखों और संपत्तिशास्त्र जैसी महत्वपूर्ण कई पुस्तकों ने आलोचना को व्यवस्थित आधार अवश्य प्रदान किया। उन्होंने रीतिवाद का विरोध किया, कविता को लक्षण ग्रंथों के आधार पर न समझने की वकालत की, गद्य और पद्य की भाषा को एकरूप करने पर जोर दिया और सबसे बड़ी बात यह कि अपने देश-काल की समकालीन चुनौतियों से साहित्य को जोड़ने में अगुवा की भूमिका निभाई। नए पैदा होते मध्यवर्ग और नवजागरण को ध्यान में रखते हुए आचार्य द्विवेदी आदर्शवाद के मानक तो सामने रखते ही हैं, साथ ही परंपरा का मूल्यांकन भी करते हैं। संस्कृत कवियों, खासकर कालिदास पर लिखे गए लेख में उन्होंने यही कार्यभार लिया और कालिदास की निरंकुशता को लक्ष्य किया। अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान, कला आदि अन्यान्य और बहुतेरे नए विषयों पर 'सरस्वती' में लिखवाए गए लेखों ने हिंदी के ज्ञान-भंडार को न सिर्फ समृद्ध किया बल्कि हिंदी भाषा की शक्ति भी बढ़ाई। इस प्रकार से देखें तो अपने युग में साहित्य के कैनन बनाने में आचार्य द्विवेदी की अन्यतम भूमिका है। जहाँ तक आलोचना का प्रश्न है, इस युग से मैंने मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' को विवेचना का आधार बनाया है।

आचार्य शुक्ल के पहले कैनन के लिहाज से मिश्र-बंधुओं की पुस्तक 'हिंदी नवरत्न' महत्वपूर्ण है, जिसे हिंदी की आधुनिक आलोचना की पहली किताब होने का गौरव प्राप्त है। यह किताब पहले-पहल 1910 में छपी। बाद इसके, मिश्रबंधुओं के जीवनकाल में संक्षिप्त नवरत्न को मिलाकर इस पुस्तक के दस संस्करण निकले, और हर संस्करण में मिश्रबंधु कुछ न कुछ जोड़ते-घटाते रहे। मूल नवरत्न के छह संस्करण क्रमशः सन 1910, 1924, 1928, 1937 और 1941 में निकले और नवरत्न का संक्षिप्त संस्करण पहली बार 1934 में निकला। संक्षिप्त नवरत्न के भी पीछे 1940, 1943 और 1944

में संस्करण हुए। इन संस्करणों में होने वाले परिवर्तन भी कम रोचक नहीं हैं। मिश्रबंधु ने नवरत्नों को तीन श्रेणियों में बाँटा। प्रथम संस्करण में वृहत्त्रयी में तुलसी, सूर और देव रखे गए। मध्यत्रयी में बिहारी, भूषण और केशव थे और लघुत्रयी में मतिराम, चंदबरदाई, और भारतेंदु हरिश्चंद। इनका श्रेष्ठताक्रम भी लगभग इसी प्रकार मिश्रबंधुओं ने माना। मूल नवरत्न के 1924 वाले संस्करण में कबीर उनके कैनन में प्रवेश पाते हैं। संख्या नौ ही रहे, इस कारण दस कविरत्नों में भूषण और मतिराम को 'त्रिपाठी बंधु' नाम दिया गया। कबीर कैनन का हिस्सा कैसे बनते हैं, यह हम आगे देखेंगे।

द्विवेदीयुगीन आलोचना के कैननों पर बहस के लिए 'हिंदी नवरत्न' एक प्रातिनिधिक पुस्तक मानी जा सकती है। इसलिए नहीं कि यह पुस्तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती थी, वरन इससे अलग इस किताब में पारंपरिक काव्यशास्त्रीय समझ और 'आधुनिकता' के प्रतिमानों का एक द्वंद्व दिखता है। इस किताब में जहाँ एक तरफ आधुनिक, नए प्रतिमान हैं, वहीं रुचियों के स्तर पर लेखकों की रीतिकालीन समझ भी उनके आलोचनात्मक कैननों में रची-बसी है। भारतेंदु के समय से चली आ रही आलोचना में आधुनिक का पुट तो था पर तब भी कविता की भाषा ब्रज ही रही आई थी। समालोचना का अर्थ मिश्रबंधु के लिए वही था जो लाला भगवानदीन ने अपनी पुस्तक 'बिहारी और देव' के मुखपृष्ठ पर अंकित किया था -

सांची बात 'दीन' कवि कहैं, कोउ सिराय सुनि कोउ दहै।
सांची समालोचना वही, पक्षपात से दूरि जु रहै॥

आलोचना में 'सच्चाई' और पक्षपातहीनता की यह माँग प्रारंभिक हिंदी साहित्य की मूल्य-व्यवस्था की ओर संकेत करती है। 'देव-बिहारी विवाद' में खोजा गया यह मूल्य मिश्रबंधुओं के यहाँ भी मौजूद है। यहीं ध्यान देने की बात है कि भारतेंदु काल में पाश्चात्य समीक्षा प्रणाली का भी काफी असर भारतीय आधुनिक आलोचना को बनाने वाला साबित हुआ। उस समय में पाश्चात्य सैद्धांतिकी का काफी प्रभाव देखा जा सकता है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में पोप के 'एसे आन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद 'समालोचनादर्श' के नाम से जगन्नाथ दास रत्नाकर ने किया। तत्कालीन प्राय: सभी पत्रिकाओं में 'बुक रिव्यू' के कालम छपने लगे। 'एसेंस', 'स्पिरिट ऑफ द टाइम', 'क्लासिक', 'पोएट ऑफ जनरल विजन' जैसी अवधारणाओं का प्रयोग होने लगा। यह बात आगे भी जारी रही। सूर की प्रशंसा करते मिश्रबंधु उन्हें 'पोएट ऑफ जनरल विजन' से

व्याख्यायित करते हैं। तुलसी का विश्लेषण करते हुए मिश्रबंधुओं ने आधुनिक मीमांसा का सहारा लिया। पहले अध्याय में हम देख आए हैं कि गियर्सन आदि तुलसी को किन आधारों पर विश्लेषित करते हैं। मिश्रबंधु के शब्द हैं – '... गोस्वामी जी ने सर्वसाधारण के समझने योग्य सरल हिंदी में उपदेश दिए। ... रामचंद्र का वर्णन बहुत सजीव एवं मर्यादापूर्ण किया, जिससे आपके उपदेशों का प्रभाव बहुत भारी पड़ा और सरल भाषा के कवि होने से आप उत्तर भारत के सबसे बड़े उपदेशक और चरित संशोधक हुए।' ऊपर के उद्धरण में खटकने वाली पहली बात है तुलसी की भाषा के बारे में विचार। विडंबनात्मक रूप से हिंदी में बोलियों के साहित्य को अपना साहित्य कहा जाता रहा है और यहाँ तो मिश्रबंधु अवधी का नाम तक नहीं ले रहे। यह सिर्फ लिपि का मामला नहीं है क्योंकि इस तर्क के अनुसार मराठी की लिपि भी नागरी ही है। तब निश्चय ही बोलियों के ऊपर की गई इन अधिकारवादी टिप्पणियों की सांस्कृतिक जड़ें नवजागरण में हैं, जहाँ समुदाय अपने आप को मजबूत बनाने के लिए बहुतेरी अलग अस्मिताओं को अपने में समाहित करने का यत्न कर रहे थे। ऐसा ही आचार्य शुक्ल ने भाषा के संदर्भ में किया। उपरोक्त उद्धरण में 'मर्यादा' शब्द भी विशेष ध्यान आकृष्ट कराता है। यह शब्द तत्कालीन भारतीय मनीषा और पश्चिमी विद्वानों को समान रूप से प्रिय है। भक्तिकाल की रीतिकाल पर श्रेष्ठता इसी शब्द की छाया में निर्मित हुई। पीछे हमने देखा कि ग्रियर्सन ने भी तुलसी को कैनन में शामिल करते हुए इसी 'मर्यादा' का सहारा लिया। इस मर्यादा के अक्षांश और देशांतर क्या हैं? क्या यह प्रस्तावित किया जा सकता है कि यह मर्यादा गुलाम देश के चिंतकों की अस्मिता प्राप्त करने की छटपटाहट है? यदि यह सच हो तो भी ग्रियर्सन का प्रयोग इससे व्याख्यायित नहीं होता। तब क्या यह संभव है कि मर्यादा का गियर्सन वाला प्रयोग ही भेष बदलकर आगे तक आया हो? यही हुआ, धर्म के रास्ते बनते कैननों में शुचिताबोध से शुरू कहानी आगे बढ़ते हुए देशी अस्मिता में मर्यादा को केंद्रीय बनाने तक ले गई। प्रसंगतः अंग्रेजी प्रभाव से भारतीय आलोचनात्मक कैनन प्रभावित और विकसित होने लगे। उदाहरण के लिए बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', जोकि अपनी भाषा में पर्याप्त संस्कृतानुगामी थे, और उस लिहाज से भारतीय परंपरा के उन्नायक भी, उनकी टिप्पणी ध्यान आकृष्ट कराती है – 'रिव्यू अर्थात समालोचना का अर्थ है पक्षपातरहित होकर न्यायपूर्वक किसी पुस्तक के यथार्थ गुण-दोष की विवेचना करना और उसके ग्रंथकर्ता को विज्ञप्ति देना।' यहाँ आलोचना के मान के रूप

में 'गुण-दोष विवेचन' को प्रतिष्ठित किया गया है। हिंदी आलोचना के लिए यह नई बात थी। भले ही आचार्य शुक्ल ने 'अंत:वृत्तियों की छानबीन' के बरक्स 'गुण-दोष विवेचन' को हीन ठहराया परंतु उनका रोष मिश्रबंधुओं की नंबर गिनाने वाली पद्धति से है, रचनाकार की कमी-कमजोरी उद्घाटित करने वाली दृष्टि से कम। क्योंकि अलग-अलग पद्धतियों के बावजूद मिश्रबंधुओं के बहुतेरे विश्लेषण शुक्ल जी में मौजूद हैं। उदाहरण के लिए भक्ति आंदोलन के कारण खोजते हुए दोनों आलोचकों की स्थिति समान है। मिश्रबंधुओं ने लिखा - 'धर्म पर बल प्रयोग होने से हिंदुओं को समाज संरक्षण बहुत आवश्यक समझ पड़ा, जिससे हमारी धर्म की तार्किक प्रगति भक्ति की ओर चलने लगी।' अब शुक्ल जी द्वारा चिन्हित कारण से इसका मिलान कीजिए - '...जब मुस्लिम समुदाय दूर तक स्थापित हो गया ...पीछे हिंदू समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?'

'रिव्यू' और समालोचना के परस्पर संबंधों की छानबीन करने से पता चलता है कि नई गद्य विधाओं के उपजने के साथ ही आलोचना की आवश्यकता आन पड़ी। नई गद्य विधाएँ नवजागरण से उपजी थीं। नवजागरण के आने में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का हाथ था। या कहें तो ब्रिटिश उपनिवेशवाद नवजागरण के लिए अचेतन औजार था। इसी से लड़ाई के दौरान 'राष्ट्र' की आधुनिक संकल्पना आई। पर पिछले अध्याय में हमने देखा कि कैसे 1857 के समय बना यह राष्ट्रीय बोध खंडित हुआ और हिंदी आलोचना ने एक दूसरी राह पकड़ी, जिसपर औपनिवेशिक प्रभाव भी थे। रिव्यू के ढर्रे पर समालोचना का विकास हिंदी में हुआ, ऊपर उद्धृत प्रेमघन की टिप्पणी इस ओर इशारा करती है। दूसरी बात है 'सच्चाई' की। तत्कालीन कई आलोचकों ने इस बिंदु से आलोचना को देखने की हिमायत की है। स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचार इस विषय में प्रेमघन से मिलते-जुलते हैं, हालाँकि वे प्राचीन कवियों के बारे में कह रहे हैं - 'प्राचीन कवियों की समालोचना करना और नेकनीयती से उसमें यथार्थ दोषों को दिखाना बुरा नहीं। इस तरह की समालोचना से कोई हानि नहीं, प्रत्युत लाभ है।'

मिश्रबंधुओं ने भी इसी समय-सरगम में अपनी टिप्पणी जोड़ी - 'जो लोग इस विषय में अधिक समय लगा सकते हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे ग्रंथों के ठीक-ठीक गुण-दोष बताकर मनुष्यों की रुचियों की भी उन्नति करें।' गुण-दोष

विवेचन, रुचियों का परिष्कार और कर्त्तव्य, ये तीन केंद्रीय शब्द हमें तत्कालीन आलोचना के स्वरूप को समझने में मदद करते हैं। आचार्य शुक्ल ने आलोचना के संदर्भ में उपरोक्त तीनों में से मात्रा गुण-दोष विवेचन को ही चिन्हित किया, अन्य दो को अन्य साहित्यिक विधाओं पर लागू किया। प्रसंगतः मिश्रबंधुओं के कैनन के आधार उन्हीं के शब्दों में निम्नांकित थे – 'कवि को कुछ कहना था या नहीं, और उसने उसे कैसा कहा है? संक्षिप्त रीति से कहने में पहला प्रश्न यों भी कहा जा सकता है कि उसका क्या संदेश है? ...यदि संदेश सबल होगा तो साहित्य गौण होकर फीका पड़ जाएगा, और यदि साहित्य सबल रक्खा जाय, तो संदेश डूब जाएगा...' हिंदी की संपूर्ण साहित्यराशि में से उत्कृष्ट का चुनाव करना ही मिश्रबंधुओं का लक्ष्य था। मिश्रबंधुओं ने ये प्रतिमान स्थापित तो किए, पर समस्या क्या और कैसे के बीच तादात्म्य की थी। क्या और कैसे अर्थात विषय और कथनशैली की उत्कृष्टता का तादात्म्य कहीं वे बैठा पाते हैं और कहीं नहीं। कथ्य और शिल्प या रूप और अंतर्वस्तु के पारस्परिक संबंध मिश्रबंधुओं के लिए अव्याख्येय थे। मिश्रबंधुओं के कैनन निर्माण की प्रक्रिया में रूप और अंतर्वस्तु का यही असमाधेय द्वंद्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसे उनके पूरे 'नवरत्न' में देखा जा सकता है।

कबीर को उन्होंने नवरत्न के दूसरे संस्करण में शामिल किया। शामिल करने की वजह कबीर के कवि से अधिक उनका 'महात्मापन' था। लेकिन यही प्रतिमान तुलसी के लिए न थे। यहाँ प्रतिमान निर्धारण में कविता तत्त्व का भी योग था। उनके सामने प्रस्तुत प्रश्न यह था कि अच्छा धर्मोपदेश करने के बावजूद कबीर बड़े कवि क्यों नहीं हैं? उन्हीं की भाषा में इस प्रश्न को प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा – 'ब्रहमानंदी एक कवि भी होता है या नहीं? ...ब्रहमानंद का उद्‌गार कविता में अच्छा होगा क्योंकि यह उसका माध्यम है।.. हिंदी नवरत्न में ईश्वरी विचार से आप सबसे ऊँचे मनुष्य हैं, इसमें हमें संदेह नहीं। संभव है, कोई अन्य महाशय गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास को बढ़कर या इनके बराबर बतलावें। हमारी समझ में ये महात्मा लोग कबीरदास की ईश्वर संबंधी धार्मिक उच्चता को नहीं पहुँचे।' इन्हीं कबीर को 1910 वाले नवरत्न के संस्करण में सूचीबद्ध नहीं किया गया था। मिश्रबंधु अपनी तरफ से कारण देने लगते हैं कि कबीर भक्त अधिक हैं, कवि कम। और चूँकि नवरत्न काव्य में कैनन बनाने का ग्रंथ है, इसलिए महात्मापने के बावजूद कबीर कैनन में शामिल नहीं किए गए। बाद में इसी महात्मापने के कारण कबीर कैनन में शामिल हुए। ध्यान देने की

बात यह है कि मिश्रबंधुओं के नवरत्न की आलोचना अन्यान्य बिंदुओं से तो की गई थी पर कबीर के शामिल न होने पर किसी ने अँगुली न उठाई। मिश्रबंधुओं के कैनन में कबीर उनकी अपनी ही आलोचनात्मक दुविधा के कारण शामिल हुए। संदर्भत: जो बात विश्वनाथ त्रिपाठी ने नवरत्न के संदर्भ में तुलसी-सूर पर लिखी, वह उनपर तो नहीं, कबीर पर अवश्य लागू होती है – 'यहाँ ख्नवरत्न में, तुलसी और सूर की रक्षा उनके 'महात्मापन' ने की है, कविता ने नहीं।'

संदर्भत: हिंदी आलोचना और उसमें बन रहे कैननों का दिलचस्प दृश्य हम एक लोकोक्ति के माध्यम से भी देख सकते हैं। साहित्यिक कृतियों और लोक में समान रूप से दुहराया जाने वाला एक दोहा हिंदी आलोचना में प्रारंभिक कैनन निर्माण की बानगी पेश करता है –

'सूर-सूर, तुलसी शशि, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करत प्रकाश।।

यह दोहा किसके द्वारा लिखा गया, बहुउद्धृत होने के बावजूद इसके साक्ष्य मुझे नहीं मिले। जो हो, दोहे के समय के बारे में निश्चित रूप से हम यह कह सकते हैं कि यह केशवदास के समय या उनके बाद ही लिखा या कहा गया होगा क्योंकि केशव स्वयं दोहे में कवि के रूप में उद्धृत हैं। केशव का काल 1555 से 1617 तक माना जाता है। वाचिक आलोचना में स्थापित इस दोहे के काव्यात्मक कैनन में सूर प्रथम स्थान के भागीदार हैं – श्रेष्ठतम कवि। तुलसीदास, सूर के बाद आते हैं, और वरीयताक्रम में केशव का स्थान तीसरा है। आश्चर्यजनक रूप से हम हिंदी आलोचना को, प्रारंभ से ही इस दोहे में अभिव्यक्त कैनन के विरुद्ध पाते हैं। वे चाहे ग्रियर्सन हों, तासी हों, मिश्रबंधु हों या फिर आचार्य शुक्ल, यहाँ तुलसी सूर्य हैं और सूर चंद्रमा। तुलसी को कैनन में शीर्ष स्थान देने के प्रयत्न ग्रियर्सन के पहले से भी प्रारंभ हो गए थे। ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर तो मिलता है कि तुलसी कैनन में अव्वल क्यों बनाए गए, पर सूर के पहले स्थान से अपदस्थ होने के कारण सीधे ज्ञात नहीं होते। इस के लिए हमें तुलसी को कैनन में सर्वश्रेष्ठ बनाने वाली आलोचना और उन आलोचकों के सूर संबंधी विचार देखने होंगे। पर इससे यह तो अवश्य पता चलता है कि रीतिकाल में बने कैननों से आधुनिक काल के कैनन अलग आधार पर खड़े थे।

अब फिर नवरत्न की ओर लौटें। नवजागरण संबंधी आधुनिक चिंतन पर ध्यान दें तो हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल का इसे गद्य काल कहना नितांत

प्रासंगिक था। निश्चय ही गद्य काल कहने का तात्पर्य कविता से गद्य के परिमाण का बढ़ना न था, वरन गद्य काल एक विशिष्ट सांस्कृतिक बदलाव को भी अभिव्यक्त करता था। तात्पर्य यह कि काव्य आधारित मानक और कैननों के स्थान पर गद्य आधारित आलोचना का विकास होने लगा। साहित्य-रूपों में भारी परिवर्तन हुए। यहाँ तक कि कविता ने भी ब्रज का दामन छोड़ा और टूटी-फूटी चाल में ही सही, खड़ी बोली का रास्ता किया। गद्य के ही नहीं, कविता के समझने के मानदंड भी बदले। मिश्रबंधु कैननों में परिवर्तन के इसी संधिबिंदु पर खड़े आलोचक हैं।

मिश्रबंधुओं को एक तरफ देव की कविता में मुग्धा के भेद प्रिय हैं, कोमलता, रसिकता, सुंदरता पसंद है, वे अन्योक्ति, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति पर निछावर हैं। अर्थात नवरत्न के कैनन में देव का स्थान पुरानी चली आ रही काव्यशास्त्रीय परंपरा के कारण है, जहाँ काव्य के रूप पक्ष के सहारे मिश्रबंधुओं ने देव आदि की कविता का विश्लेषण किया और उन्हें उच्च स्थान दिया। दूसरी तरफ उनकी दुविधा के सर्वोत्तम उदाहरण कबीर हैं जो काव्य के नाते नहीं वरन अपने महात्मापन के कारण नवरत्न में स्थान बना पाते हैं। पर ध्यान रहे, बावजूद इसके कबीर का स्थान सातवाँ ही रहा। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस द्वंद्व पर अँगुली रखी और 'सरस्वती' में नवरत्न की समीक्षा करते हुए पूछा – '...कैसी और कितनी उत्तमता के कारण आपने मतिराम को भी रत्न समझा और हरिश्चंद को भी।' इस प्रश्न का एक उत्तर परोक्ष रूप से रामविलास शर्मा ने दिया। अपने रीतिवाद विरोध के एजेंडे को लागू करते हुए रामविलास जी ने अपनी किताब 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' में महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रशंसा करते हुए मिश्रबंधुओं के बारे में लिखा – '...उन्होंने तुलसीदास ही नहीं, सूरदास को भी रीतिवादी कवियों से अलग किया और देव, बिहारी, मतिराम आदि की तुलना में न केवल तुलसीदास, सूरदास को श्रेष्ठ बताया वरन हिंदी प्रदेश में नवजागरण के अग्रदूत भारतेंदु हरिश्चंद को भी उनसे ऊँचा स्थान दिया। आधुनिक हिंदी साहित्य रीतिवादी परंपरा के विरोध में, साहित्य में उसे निर्मूल करके ही विकसित हो सकता था। ...जो लोग बीसवीं सदी में रीतिवाद का विरोध कर रहे थे, उनके लिए स्वाभाविक था कि वे संत कवियों और भारतेंदु हरिश्चंद से अपना संबंध जोड़ें।' यहाँ रामविलास जी परोक्ष रूप से मिश्रबंधुओं और आचार्य द्विवेदी को आमने-सामने रख अपने रीतिवादविरोध के एजेंडे को लागू कर रहे हैं। इस संदर्भ में रामविलास जी की 1943 में लिखी टिप्पणी, जो

कि उनकी पुस्तक 'विरामचिह्न' के 'मिश्रबंधु और नायिका भेद' से ली गई है, स्मरणीय है। यहाँ भी रामविलास जी का एजेंडा वही है, पर भाव बदले हुए हैं। अब मिश्रबंधु रीतिवाद समर्थन में उद्धृत हैं – 'पल्लव की भूमिका से पहले मिश्रबंधुओं ने नायिका भेद वाले कवियों के दुर्ग पर भरपूर आक्रमण किया था। इनमें पहले लक्षण ग्रंथ रचने वालों को लीजिए। रीतिकाल में ऐसे कवियों की भरमार थी जो काव्य रचना सिखाते अवश्य थे, परंतु स्वयं किसी कारणवश अच्छी कविता न लिख पाते थे। मिश्रबंधु कहते हैं 'आँख एक भी नहीं, और कजरौटे नौ–नौ।' काव्य रीति के शिक्षक हजारों हैं, लेकिन काव्य लिखने वाले ढूँढ़े नहीं मिलते।'

यहाँ हम देख सकते हैं कि रामविलास जी ने अपने एजेंडे के लिए मिश्रबंधुओं को दो तरह से उद्धृत किया। एक जगह महावीर प्रसाद द्विवेदी की नवजागरण पुरोधा की छवि को चमकाने के लिए तो दूसरी जगह नायिका भेद के खिलाफ। कुल मिलाकर दोनों उद्धरणों को सामने रखकर देखा जाए तो स्पष्ट है कि 'अंत:वृत्तियों की छानबीन' से अधिक रामविलास जी रीतिवाद विरोध से संचालित हैं। यहाँ उस प्रश्न पर फिर लौटें जहाँ महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मिश्रबंधुओं से हरिश्चंद और मतिराम को एक ही कैनन में रखने के पीछे के तर्क कर प्रश्न उठाया था। द्विवेदी जी के प्रश्न से एक और प्रश्न उभरता है। वह यह कि क्या हिंदी काव्य का कोई कैनन रीतिकाल को बाहर रखकर बनाया जा सकता है। कविता का एक युग उत्कृष्ट काव्य की श्रेणी से क्या बाहर निकाला जा सकता है? क्या यह इतिहास में 'बहिष्करण' की उस बहस की याद नहीं दिलाता, जिसमें समूचे मध्यकाल को 'अंधकार युग' कह कर बहिष्कृत किया गया। तर्कश: इसका उत्तर नवजागरण के कारण बदली हुई चेतना को जिम्मेदार मानना है, पर इस चेतना का अपना स्वरूप क्या इतना विकसित था कि वह भारतीय साहित्य का कैनन बना सके? यह एक बढ़ा हुआ प्रश्न लग सकता है पर हमने देखा कि औपनिवेशिक ज्ञान ने हमारी अपनी मेधा में सत्तातंत्र के सहारे घुसपैठ की थी। दूसरी तरफ रीतिकाल कोई एकआयामी परिटना नहीं है। वहाँ यदि 'छाती छैल छुवाइ' वाली कविता है तो 'देखि दुपहरी जेठ की' भी है। ऐसा कैसे संभव है कि एक–ब–एक कोई साहित्यिक परंपरा पूरी तरह नष्ट बता दी जाए और विदेशी आक्रमण के फलस्वरूप 'आधुनिकता' का प्रणयन हो जाए? इस तर्क विन्यास से भक्तिकाल के उदय का शुक्ल जी द्वारा दिया गया तर्क अधिक संगत होगा कि परंपरा से अधिक प्रभाव आक्रमण डालते हैं। आश्चर्यजनक रूप से शुक्ल जी के इस तर्क

के खारिज होने के बावजूद महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रखर रीतिवाद विरोध को आधुनिकता की कसौटी के रूप में आज भी देखा जाता है।

भारतेंदु और भूषण एकदम अलग कारणों से नवरत्न में शामिल हैं। सर्वाधिक 'आधुनिक' कारणों से। इनको नवरत्न में शामिल करने का आधार इनके द्वारा किया गया 'जातीय गौरव का वर्णन' है। निष्कर्षत: हम देख सकते हैं कि 'क्या कहा' और 'कैसे कहा' के द्वंद्व के आधार हैं जो कि कैनन निर्माण की प्रक्रिया में भूमिका निभाते हैं। यहाँ हम रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय दृष्टि और नवजागरण के द्वंद्व को भी लक्षित कर सकते हैं। विश्लेषण से हमने देखा कि मिश्रबंधु तीन आधारों पर अपने कैनन बनाते हैं – क. क्या कहा गया है ख. कैसे कहा गया है ग. कब कहा गया है। वे कवि जो इन तीनों प्रतिमानों पर खरे उतरते हैं नवरत्न में ऊपर हैं। यहाँ तीसरा आधार एकदम नया है। नवजागरण काल के आधुनिक कैननों को ध्यान में रखा जाय तो हम पाएँगे कि अंतर्वस्तु की प्राथमिकता ही नए रूप लेकर आ रही थी। देश की अवधारणा और स्वाधीनता आंदोलन के कारण आलोचना के कैननों में अंतर्वस्तु और जोर पकड़ रही थी। यह अंतर्वस्तु निश्चय ही अपने समय से निर्धारित थी जिसके कारण 'जातीयता' जैसे मूल्य केंद्र में आए।

ऐतिहासिक रूप से मिश्रबंधु जिस युगसंधि पर खड़े थे, वहाँ से मुसलमान और मुस्लिम राज के बारे में उनके विचार ध्यान देने लायक हैं। तुलसी के प्रकरण में मिश्रबंधु लिखते हैं कि – 'ऐसा कौन हिंदी अक्षरों का ज्ञान एवं हिंदी, हिंदू, हिंद से कुछ भी संबंध रखने वाला हतभाग्य पुरुष होगा जो महात्मा तुलसीदास जी महाराज के नाम, यश और पीयूषवर्षिणी कविता से थोड़ा बहुत परिचित न हो?' इस उद्धरण से पता चलता है कि कविता पढ़ने के पीछे मिश्रबंधुओं के समय तक 'जातीयता' एक आधार की तरह काम करने लगी थी। भारतेंदु ने 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' शीर्षक बलिया वाले भाषण में जो सूत्र छोड़े थे और जिसमें उपनिवेशवादविरोध विन्यस्त है, को आगे बढ़ाते हुए मिश्रबंधुओं ने आलोचना में वही 'धर्म, भाषा और राष्ट्र' का त्रिक स्थापित किया। ऐतिहासिक विकासक्रम में हमने देखा कि कैसे 'सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों' ने इस त्रिक का उपयोग किया। कहने का तात्पर्य यह तो कतई नहीं है कि इसी पुरानी सांस्कृतिक परंपरा का बढ़ाव 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' है, वरन प्रयत्न यह है कि नवजागरण के मुख्य चरित्र की तथ्यात्मक पड़ताल की जाए, जिससे आलोचना के प्रारंभिक कैननों का आधार स्पष्ट हो सके।

राष्ट्रीय जागरण या 'राष्ट्र' बनने की परिघटना में धर्म का तत्त्व भी प्रभावी था। निश्चय ही यह 'धर्म' मध्यकालीन धर्म की अवधारणा से अलग था। मध्यकाल में धर्म और राज्य का हमारे अपने देश में एक हद तक अलगाव दिखाई देता है। जबकि 'राष्ट्र' निर्माण के बाद यह और मजबूत होनी चाहिए थी, इसका उल्टा हुआ। हमारे देश में आने वाली पूँजी बरास्ते उपनिवेशवाद आ रही थी, ऐसी पूँजी से यह आशा करना कि वह उत्पादन के संबंधों या साधनों में आमूल बदलाव का कार्यभार लेगी, असंभव था। इस पूँजी ने पुराने उत्पादन संबंधों से लड़ने की बजाय उनसे समझौता कर लिया। तब इस तालमेल के सांस्कृतिक निहितार्थ भी सामने आए। धर्म की यह बदली हुई भूमिका थी, जो मध्ययुग के धर्म के बरक्स अपने को व्याख्यायित-संगठित कर रही थी। इस सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में हिंदी आलोचना की पहली किताब के लेखकों के विचार ध्यान देने योग्य हैं, जो उन्होंने 'हिंदी नवरत्न' में तुलसीदास के आविर्भाव वाले प्रकरण पर लिखे हैं – '...उस समय भारतीय धार्मिक विश्वासों की दशा कुछ अवांछनीय थी। मुसलमानों ने एकेश्वरवाद पर पूर्ण श्रद्धा प्रकट करके भारतीय दार्शनिक विचारों में कुछ नवीनता-सी उपस्थित कर दी थी। प्राचीनकाल में हमारे यहाँ एकेश्वरवाद पूर्णरूप से दृढ़ था, किंतु पीछे से बौद्ध-त्रिरत्न के जोड़ पर हमारे ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विचारों ने इसमें कुछ गड़बड़ कर दी थी। इन्हीं बातों से राह भूलकर इन्हें तीन देवता मानने लगी और आदि शक्ति को भी पृथक देवी समझ बैठी। इस प्रकार हिंदू-मुसलमानों का एक धार्मिक विभ्राट था। ...इसे मिटाने को महात्मा कबीरदास का प्रादुर्भाव, जिन्होंने एकेश्वरवाद का सच्चा उपदेश दिया और हिंदू-मुसलमानों की एकता दिखलाई। यदयपि महात्मा कबीरदास ने पूरे तौर पर निर्गुण ब्रह्म का कथन न करके प्रेम भाजन तथा पुकार सुनने वाले ईश्वर का उपदेश दिया, तथापि उनके ईश्वर में निर्गुणता का अंश विशेष था, और सगुणोपासना का थोड़ा या कुछ भी नहीं। अतएव परमोच्च एवं परमोपयोगी होने पर भी महात्मा कबीरदास की शिक्षा जनता के लिए वैसी लाभदायक नहीं हुई। महात्मा तुलसीदास कबीर साहब से प्राय: पचास वर्ष पीछे हुए। आपने हिंदू-मुसलमानों के मतों में ऐक्य पैदा करने का विचार छोड़कर केवल हिंदुओं की सब शाखाओं के एकीकरण का प्रयत्न किया।'

इस किंचित लंबे उद्धरण में मिश्रबंधु के उलझे हुए ख्याल साफ-साफ दिखते हैं। अपनी सांस्कृतिक जड़ों को अपने वर्तमान के दबावों में परिभाषित करने की मंशा भी यहाँ रेखांकित की जा सकती है। मिश्रबंधुओं की विचार

प्रक्रिया देखिए – हमारे यहाँ पहले एकेश्वरवाद था, बौद्धों ने इसे बिगाड़ा, अर्थात जनता को गुमराह किया। और आगे इसी एकेश्वरवाद के जरिए मुसलमान आए। उन्होंने भी एकेश्वरवाद के जरिए हिंदूपन को नुकसान पहुँचाया। पीछे हम देख आए हैं कि तासी इसी एकेश्वरवाद के नुक्ते से हिंदुओं के खिलाफ मुसलमानों और ईसाईयों की दोस्ती का फार्मूला दे रहे थे। यह एकेश्वरवाद ही मुश्किल गुत्थी है जिसे मिश्रबंधु, कबीर के जरिए हल करने की कोशिश करते हैं पर कबीर उनके कैनन में नहीं हैं। उनके कैनन में हैं तुलसी। यहाँ कबीर किन गुणों के लिए प्रशंसित हैं? वे मिश्रबंधुओं के कैनन में हिंदू धर्म के सामने आई नई एकेश्वरवादी चुनौती से लड़ने के लिए उपस्थित हैं। यह वे नहीं कर पाते हैं। उनकी असफलता बताते हुए मिश्रबंधु अपने ही तर्कों में उलझ जाते हैं। उनके अनुसार कबीर इसलिए 'जनता के लिए लाभदायक' न हो पाए क्योंकि उनके 'ईश्वर में निर्गुणता का अंश विशेष' था। जबकि प्राचीन हिंदुस्तानी गौरव के वर्णन के क्रम में पहले वे एकेश्वरवाद को इसी जमीन की उपज बता चुके हैं और बौद्धों को इस गौरवशाली एकेश्वरवाद के विनाश के लिए कोस चुके हैं। अपना एकेश्वरवाद अच्छा था और मुसलमानों का बुरा, यही वदतोव्याघाती ध्वनि इस उद्धरण से निकलती है। अब मिश्रबंधुओं के अनुसार सगुणोपासना, जिसके कारण तुलसी प्रिय कवि बनते हैं, की ऐतिहासिक जड़ बौद्ध हैं, तो उनसे विरोध कैसे संभव है। कुल मिलाकर मिश्रबंधु मानते हैं कि चली आ रही महान भारतीय परंपरा में मुसलमानों ने आकर गड़बड़ी पैदा की और तुलसी ने ऐसे समाज को पुनर्मयादित और व्यवस्थित किया।

इसी प्रकरण में मिश्रबंधुओं ने आगे लिखा – '...मुसलमान काल में वह समय बहुत ही अच्छा और शांतिपूर्ण माना जाता है, किंतु उसमें भी गोस्वामी जी भूप को 'न कृपालु चित' तथा 'भूमिचोर' कहते हैं जिससे समझ पड़ता है कि हिंदू प्रजा को उस समय भी सुख न था।'

यहाँ यह उद्धरण नवजागरण की सारी शक्ति और सीमा लिए खड़ा है। राजा को भूमिचोर और अकृपालु चित कहने के पीछे का क्या पाठ होगा? मिश्रबंधु तुलसी की इस व्यथा को भिन्न सामाजिक आधार पर खड़े होकर समझ रहे थे। उभरते मध्यवर्गीय मन, जिसमें अस्मिताएँ ही पहचान का मुख्य रूपक थीं, के आधार पर मिश्रबंधुओं ने तुलसी का पाठ प्रस्तुत किया न कि किसान और भूमि के सवाल पर त्रस्त जनता के दृष्टिकोण से। मुगल राजशाही के समय किसान जीवन के एक बड़े कवि की रचना में आया दुख तो मिश्रबंधु समझ

लेते हैं पर उसे धर्म के उनके समकालिक विमर्श में संकुचित भी कर देते हैं। इस तरह तुलसी के काव्य में व्यक्त किसान का दुख हिंदू प्रजा का दुख बनकर रह जाता है। यह पाठ मिश्रबंधुओं के बाद आचार्य शुक्ल द्वारा किए गए जायसी के पाठ की याद दिलाता है। आचार्य शुक्ल ने भी पद्मावत का पाठ करते हुए जायसी के सामान्य जीवन के कवि होने को रेखांकित किया है। 'हौं बिन नाह, मंदिर को छावा' की व्याख्या में नागमती के रानीपने को भूल जाने को वे चिन्हित करते हैं और निष्कर्ष निकालते हैं कि जायसी सामान्य हिंदू स्त्री के दुख को व्यक्त कर रहे हैं। यह 'हिंदू स्त्री', आम औरत नहीं है, इसमें धर्म आधारित बँटवारा है। मिश्रबंधुओं के विचार इस संदर्भ में शुक्ल जी को प्रभावित करते हैं। प्रसंगत: उपनिवेशवादविरोध और राष्ट्र की सचमुच गहरी चिंताओं के बीच उस दौर में अस्मिताओं की भी रचना हो रही थी। अस्मिताओं का वाहक यही मध्यवर्गीय मन हमारे नवजागरण के केंद्र में स्थित है।

जातीय अस्मिता की खोज अपने सर्वांग रूप में मिश्रबंधुओं के समय की प्रमुख खोज है। इस लिहाज से अपने साहित्य की पड़ताल लगभग सभी तत्कालीन लेखकों ने की। इसी पड़ताल की उपज हैं भूषण। भूषण की कविता लोकप्रिय तो थी, पर भूषण साहित्यिक कैनन के भीतर इस खोज के रूप में ही आए। मिश्रबंधुओं के शब्दों में – 'भूषण में जातीयता का एक भारी गुण है। इन्हें हिंदू जाति का जितना ध्यान और अभिमान था, उतना हमने भारतेंदु के अतिरिक्त हिंदी के किसी भी दूसरे महाकवि में नहीं पाया। ...वास्तव में इनकी कविता के नायक एक प्रकार से न शिवाजी हैं, न राव बुद्ध हैं, न अवधूतसिंह, न शंभाजी हैं, न साहू जी इनके सच्चे नायक हैं हिंदू। ...भारत में उस काल स्वराज स्थापना का प्रचुर प्रयत्न हो रहा था। आपने उमंग वृद्धि द्वारा उस कार्य में अनमोल सहायता पहुँचाई। ...संयत कथन करके भी आप जातीयता के विवर्धक हुए।' भूषण के संदर्भ में राजा वाले, भूमिचोर और अकृपालु चित वाले गुण मिश्रबंधुओं को नहीं दिखाई देते हैं क्योंकि भूषण उनके यहाँ राजा नहीं वरन मुस्लिम राज के विदेशी वर्चस्व के खिलाफ लड़ने वाले जातीय नेता हैं। और यह जातीयता भारतेंदु को जातीय नेता के बतौर भी स्थापित कर रही थी।

इस आलोक में हम देखते हैं कि मिश्रबंधु हिदी आलोचना में कैनन निर्माण की एक ऐसी प्रक्रिया के बीचोबीच खड़े हैं, जहाँ आलोचना का सारतत्त्व उपनिवेशवादविरोध है। मिश्रबंधु हिंदी आलोचना और काव्यशास्त्र के उस पहलू में प्रशिक्षित हैं जहाँ काव्य रीति और काव्य गुणों की चर्चा है। इसलिए वे अपने

कैनन का निर्माण करते हुए रीतिकाल के कवियों को उसमें शामिल करते हैं। दूसरी तरफ चूँकि आधुनिकता और नवजागरण के आगमन से ही आलोचना का जन्म हुआ, इसलिए वे चिंताएँ, राष्ट्र की चिंताएँ भी उनकी आलोचना-दृष्टि का अभिन्न हिस्सा हैं। आगे हम देखते हैं कि यह उपनिवेशवादविरोध भी अलग-अलग धाराओं में बँटा हुआ है, सो मिश्रबंधु भी विशिष्ट वर्गीय दृष्टि से उपनिवेशवादविरोधी हैं। कांग्रेस के नेतृत्व वाली सुधारपरक राजनीति ही तत्कालीन उपनिवेशवादविरोध की मुख्यधारा है। हिंदी आलोचना के इस शैशवकाल में हम देखते हैं कि कैनन निर्माण की प्रक्रिया में राष्ट्र एक महत्वपूर्ण आधार है।

8

विद्यापति

विद्यापति भारतीय साहित्य की 'शृंगार-परम्परा' के साथ-साथ 'भक्ति-परम्परा' के प्रमुख स्तंभों में से एक और मैथिली के सर्वोपरि कवि के रूप में जाने जाते हैं। इनके काव्यों में मध्यकालीन मैथिली भाषा के स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है। इन्हें वैष्णव, शैव और शाक्त भक्ति के सेतु के रूप में भी स्वीकार किया गया है। मिथिला के लोगों को 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' का सूत्र दे कर इन्होंने उत्तरी-बिहार में लोकभाषा की जनचेतना को जीवित करने का महान् प्रयास किया है।

मिथिलांचल के लोकव्यवहार में प्रयोग किये जानेवाले गीतों में आज भी विद्यापति कीशृंगार और भक्ति-रस में रचनाएँ जीवित हैं। पदावली और कीर्तिलता इनकी अमर रचनाएँ हैं।

शृंगार रस के कवि विद्यापति

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ शुक्ल जी ने सम्वत् 1050 से माना है। वे मानते हैं कि प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आरम्भ होना चाहिए इसे ही वे वीरगाथा काल मानते हैं। उन्होंने इस सन्दर्भ में इस काल की जिन आरम्भिक रचनाओं का उल्लेख किया है उनमें विद्यापति एक प्रमुख रचनाकार हैं तथा उनकी प्रमुख रचनाओं का इस काल में बड़ा महत्व है। उनकी प्रमुख रचनाएं हैं- कीर्तिलता कीर्तिपताका तथा पदावली। कीर्तिलता के बारे में

यह स्पष्ट लिखा है कि–ऐसा जान पड़ता है कि कीर्तिलता बहुत कुछ उसी शैली में लिखी गई थी जिसमें चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज रासो लिखा था। यह भृंग और भृंगी के संवाद–रूप में है। इसमें संस्कृत और प्राकृत के छन्दों का प्रयोग हुआ है। संस्कृत और प्राकृत के छन्द रासो में बहुत आए हैं। रासो की भांति कीर्तिलता में भी गाथा छन्द का व्यवहार प्राकृत भाषा में हुआ है।

उपरोक्त विवरण से यह तो स्पष्ट है कि विद्यापति को आदि काल की ही परिधि में रखना समीचीन होगा। विद्यापति के पदों में मधुरता और गेयता का गुण अद्वितीय है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने उनके काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है– 'गीत गोविन्द के रचनाकार जयदेव की मधुर पदावली पढ़कर जैसा अनुभव होता है, वैसा ही विद्यापति की पदावली पढ़ कर। अपनी कोकिल कंठता के कारण ही उन्हें 'मैथिल कोकिल' कहा जाता है।'

विद्यापति ने संस्कृत, अवहट्ठ, एवं मैथिली में कविता रची। इसके अलावा भूपरिक्रमा, पुरुषपरीक्षा, लिखनावली आदि अनेक रचनाएँ साहित्य को दीं। कीर्तिलता और कीर्तिपताका नामक रचनाएं अवहट्ठ में लिखी हैं। पदावली उनकी हिन्दी–रचना है और वही उनकी प्रसिद्धि का कारण हैं। पदावली में कृष्ण–राधा विषयक शृंगार के पद हैं। इनके आधार पर इन्हें हिन्दी में राधा–कृष्ण–विषयक शृंगारी काव्य के जन्म दाता के रूप में जाना जाता है।

विद्यापति के शृंगारी कवि होने का कारण बिल्कुल स्पष्ट है। वे दरबारी कवि थे और उनके प्रत्येक पद पर दरबारी वातावरण की छाप दिखाई देती है। पदावली में कृष्ण के कामी स्वरूप को चित्रित किया गया है। यहां कृष्ण जिस रूप में चित्रित हैं वैसा चित्रण करने का दुस्साहस कोई भक्त कवि नहीं कर सकता। इसके अलावा राधा जी का भी चित्रण मुग्ध नायिका के रूप में किया गया है। विद्यापति वास्तव में कवि थे, उनसे भक्त के समान अपेक्षा करना ठीक नहीं होगा। उन्होंने नायिका के वक्षस्थल पर पड़ी हुई मोतियों की माला का जो वर्णन किया है उससे उनके कवि हृदय की भावुकता एवं सौंदर्य अनुभूति का अनुमान लगाया जा सकता है।एक उदाहरण देखिए–

कत न वेदन मोहि देसि मरदाना।
हट नहिं बला, मोहि जुबति जना।
भनई विद्यापति, तनु देव कामा।
एक भए दूखन नाम मोरा बामा।
गिरिवर गरुअपयोधर परसित।

गिय गय मौतिक हारा।
काम कम्बु भरि कनक संभुपरि।
ढारत सेरसरि धारा।

विद्यापति की कविताशृंगार और विलास की वस्तु है, उपासना एवं साधना उनका उद्देश्य नही है। राधा और कृष्ण साधारण स्त्रीपुरुष के रूप में परस्पर प्रेम करते हैं। स्वयं विद्यापति ने अपनी रचना कीर्तिपताका में लिखा है- सीता की विरह वेदना सहन करने के कारण राम को काम-कला-चतुर अनेक स्त्रियों के साथ रहने की वेदना उत्कट इच्छा उन्होंने कृष्णावतार लेकर गोपियों के साथ विभिन्न प्रकार से कामक्रीडा की। अतः स्पष्ट है कि स्वयं कवि की दृष्टि में कृष्ण और राधा शृंगार रस के नायक-नायिका ही थे।

विद्यापति ने नारी का नख-शिख वर्णन अपनी कविता में किया है, तथा मूलतःशृंगार रस का प्रयोग किया हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनकीशृंगारी मनोवृत्ति थी। अतः उनसे भक्त जैसे काव्य-व्यवहार की अपेक्षा करना कदाचिद् एक तरह का उनसे अन्याय ही है।उन पर गीतगोविन्द के रचनाकार जयदेव का प्रभाव है। गीतगोविन्द में शृंगार रस का भरपूर प्रयोग हुआ है, तथा जो चित्र जयदेव ने श्री कृष्ण का गीतगोविन्द में प्रस्तुत किया है ठीक वैसा ही चरित्रांकन विद्यापति ने पदावली में किया है। स्पष्ट है जयदेव और विद्यापति ने जो चित्र अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है वह महाभारतकालीन धर्मस्थापना वाले श्रीकृष्ण से नितान्त भिन्न है। महाभारत में राधा जहां श्रीकृष्ण की प्रेरक शक्ति के रूप में दिखाई देतीं हैं, वहीं पदावली में विद्यापति ने कृष्ण की उद्दाम कामवासनाओं से प्रेरित राधा का रूप देखने को मिलता है। पदावली में जो कुछ वर्णित है उससे कोई भी उन्हें भक्त कवि नही मान सकता क्योंकि भक्त कवि अवने आराध्य को इस प्रकार शृंगार से मण्डित करने का दुस्साहस नहीं कर सकता। विशेषकर, दूती एवं सखी-शिक्षा-प्रसंग में जो राधाकृष्ण का अमर्यादित रूप प्रस्तुत किया गया है वह केवल कोई् शृंगारी कवि ही कर सकता है, भक्त कवि नहीं।अतिशय शृंगार का एक वर्णन विद्यापति की पदावली से देखिए-

लीलाकमल भमर धरु वारि।
चमकि चलिल गोरि-चकित निहारि।
ले भेल बेकत पयोधर सोम।
कनक-कनक हेरि काहिन लोभ।

आध भुकाएल, बाघ उदास।
केचे-कुंभे कहि गेल अप्प आस।

कुछ आलोचक उन्हें भक्त भी मानते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि निम्बार्क द्वारा प्रतिपादित द्वैताद्वैत सिद्धान्त के अनुरूप रागानुगाभक्ति का दर्शन इनके पदों में होता है और उनके पदों में राधाकृष्ण की लीलाओं के वर्णन भक्ति-भावना के परिप्रेक्ष्य में देखे जाने चाहिए। डॉ ग्रियर्सन भी इसी मत की ही तरह लिखते हैं- विद्यापति के पद लगभग सब के सब वैष्णव पद या भजन है और सभी हिन्दु बिना किसी काम-भावना का अनुभव किए विद्यापति की पदावली के पदों का गुणगान करते हैं। श्री नगेन्द्र नाथ गुप्त ने तो उन्हें भक्त प्रतिपादित करते हुए विद्यापति के पदों को शुद्ध अध्यात्मभाव से युक्त बताया है। डॉ जनार्दन मिश्र ने विद्यापति की पदावली को आध्यात्मिक विचार तथा दार्शनिक गूढ रहस्यों से परिपूर्ण माना। डॉ श्यामसुन्दर दास के अनुसार हिन्दी के वैष्णव साहित्य के प्रथम कवि मैथिल कोकिल विद्यापति हैं। उनकी रचनाएं राधा और कृष्ण के पवित्र प्रेम से ओतपोत हैं।

कुछ आलोचकों का कहना है कि विद्यापति ने पदावली की रचना वैष्णव साहित्य के रूप में की है। गीतगोविन्द की भाँति उनकी पदावली में राधा-कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की झांकी दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने अपने इष्ट की उपासना सामाजिक रूप में की है। इस दृष्टिकोण से उन्होंने विद्यापति के उन पदों को उद्धृत किया है जो विद्यापति ने राधा, कृष्ण, गणेश, शिव आदि की वन्दना के लिए लिखे हैं। राधा की वन्दना-विषयक एक पद देखिए-

देखदेख राधा-रूप अपार।
अपुरुष के बिहि आनि मिला ओल।
खिति-बल लावनि-सार।
अंगहि अंग अनंग मुरछायत,
हेरए पडए अधीर।

यही नहीं, उन्होंने प्रार्थना एवं नर-नारी के प्रसंग में भी अनेक देवीदेवताओं, राधाकृष्ण, दुर्गा, शिव, विष्णु, सूर्य आदि की वन्दना की है। कुछ समालोचक ऐसे भी हैं जो विद्यापति के श्रृंगारिक पदों की ओर ध्यान दिए बगैर ही उनके प्रार्थना सम्बन्धी पदों के आधार पर ही उन्हें भक्त कवि मान लेते हैं। यह सत्य है कि उन के कुछ भक्ति परक पद हैं, परन्तु श्रृंगार परक रचना अधिक है यहां तक कि भक्ति परक पदों में भी श्रृंगार का अतिशय वर्णन किया गया है।

विद्यापति के अनेक पदों से यह स्पष्ट है कि विद्यापति वास्तव में कोई वैष्णव नहीं थे, केवल परम्परा के अनुसार ही उन्होंने ग्रंथ के आरम्भ में गणेश आदि की वन्दना की हैं। उनके पदों को भी दो भागों में बांट सकते हैं। 1-राधाकृष्ण विषयक, 2 शिवगौरी सम्बन्धी। राधा कृष्ण सम्बन्धी पदों में भक्ति-भावना की उदात्तता एवं गम्भीरता का अभाव हैं तथा इन पदों में वासना की गन्ध साफ दिखाई देती है। धार्मिकता, दार्शनिकता या आध्यात्मिकता को खोजना असम्भव है। शिव-गौरी सम्बन्धी पदों में वासना का रंग नहीं है तथा इन्हें भक्ति की कोटि में रखा जा सकता है।

राधा कृष्ण विषयक पदों में विद्यापति ने लौकिक प्रेम का ही वर्णन किया है। राधा और कृष्ण साधारण स्त्रीपुरुष की ही तरह परस्पर प्रेम करते प्रतीत होते हैं तथा भक्ति की मात्रा न के बराबर है। इस तरह कहा जा सकता है कि विद्यापति शृंगारी कवि हैं उनके पदों में माधुर्य पग पग पर देखा जा सकता हैं। उन्होंने राधाकृष्ण के नामों का प्रयोग आराधना के लिए नहीं किया है अपितु साधारण नायक के रूप में पेश किया है तथा विद्यापति का लक्ष्य पदावली में शृंगार निरूपण करना है। कवि के काव्य का मूल स्थायी भावशृंगार ही है। राज्याश्रित रहते हुए उन्होंने राजा की प्रसन्नता में शृंगारपरक रचनाएं ही कीं, इसमें सन्देह नहीं। इसके अतिरिक्त विद्यापति के समय में भक्ति की तुलना मेंशृंगारिक रचना का महत्व अधिक था। जयदेव की गीतगोविन्द जैसी रचनाएं इसी कोटि की है।

प्रमुख रचनाएँ

महाकवि विद्यापति संस्कृत, अवहट्ठ, मैथिली आदि अनेक भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित थे। शास्त्र और लोक दोनों ही संसार में उनका असाधारण अधिकार था। कर्मकाण्ड हो या धर्म, दर्शन हो या न्याय, सौन्दर्यशास्त्र हो या भक्ति-रचना, विरह-व्यथा हो या अभिसार, राजा का कृतित्त्व गान हो या सामान्य जनता के लिए गया में पिण्डदान, सभी क्षेत्रों में विद्यापति अपनी कालजयी रचनाओं के बदौलत जाने जाते हैं। महाकवि ओईनवार राजवंश के अनेक राजाओं के शासनकाल में विराजमान रहकर अपने वैदुष्य एवं दूरदर्शिता से उनका मार्गदर्शन करते रहे। जिन राजाओं ने महाकवि को अपने यहाँ सम्मान के साथ रखा उनमें प्रमुख है।

(क) देवसिंह

(ख) कीर्तिसिंह

(ग) शिवसिंह

(घ) पद्मसिंह

(च) नरसिंह

(छ) धीरसिंह

(ज) भैरवसिंह और

(झ) चन्द्रसिंह।

इसके अलावे महाकवि को इसी राजवंश की तीन रानियों का भी सलाहकार रहने का सौभाग्य प्राप्त था। ये रानियाँ है।

(क) लखिमादेवी (देई)

(ख) विश्वासदेवी, और

(ग) धीरमतिदेवी।

कृतियाँ

संस्कृत में

भूपरिक्रमा (राजा देव सिंह की आज्ञा से विद्यापति ने इसे लिखा। इसमें बलराम से सम्बन्धित शाप की कहानियों के बहाने मिथिला के प्रमुख तीर्थ-स्थलों का वर्णन है।)

पुरुषपरीक्षा (मैथिली अकादमी, पटना से प्रकाशित)

लिखनावली

विभागसार (मैथिली अकादमी, पटना तथा विद्यापति-संस्कृत-ग्रन्थावली, भाग-1 के रूप में कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा से प्रकाशित)

शैवसर्वस्वसार

शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूत पुराण-संग्रह (विद्यापति-संस्कृत-ग्रन्थावली, भाग-2 के रूप में कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा से प्रकाशित)

दानवाक्यावली

गंगावाक्यावली

दुर्गाभक्तितरंगिणी (कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा से प्रकाशित)

गयापत्तलक

वर्षकृत्य

मणिमंजरी नाटक (मैथिली अकादमी, पटना से प्रकाशित)

गोरक्षविजय नाटक (कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा से प्रकाशित 'मिथिला परम्परागत नाटक-संग्रह' में संकलित।)

अवहट्ठ में

कीर्तिलता (मूल, संस्कृत छाया तथा हिन्दी अनुवाद सहित बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना से प्रकाशित)

कीर्तिपताका (मूल, संस्कृत छाया तथा हिन्दी अनुवाद सहित नाग प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित)

इसके अतिरिक्त शिवसिंह के राज्यारोहण-वर्णन एवं युद्ध-वर्णन से सम्बन्धित कुछ अवहट्ठ-पद भी उपलब्ध हैं।

मैथिली में

पदावली (मूल पाठ, पाठ-भेद, हिन्दी अनुवाद एवं पाद-टिप्पणियों से युक्त विस्तृत संस्करण विद्यापति पदावली नाम से तीन खण्डों में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना से प्रकाशित)।

❒❒❒